प्रज्ञापना

जेन परम्परा उतनी ही प्राचीन है, जितनी आत्मा की परम्परा और आत्मा का दर्शन। उसके इतिवृत्त के आकलन का अर्थ है अध्यात्म-उत्कर्ष के वहुमुखी विकास का आकलन।

महान् द्रष्टा, जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा रचे 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' से गृहीत 'जैन परम्परा का इतिहास' नामक यह पुस्तक जैन सस्कृति, विचार-दर्शन और आचार-परम्परा के प्राग्-ऐतिहासिक एव ऐतिहासिक काल के विविध पहलुओ पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

प्रागैतिहासिककालीन कुलकर-व्यवस्था, धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन, सामाजिक जीवन का विकास, ऐतिहासिककालीन व्यवस्थाए, सघीय परम्पराए, जैन साहित्य का सर्वतोमुखी विकास, जैन धर्म का समाज पर प्रभाव, सघ-व्यवस्था और चर्या प्रभृति अनेक विषयो का मुनि श्री ने इसमे सूक्ष्म अन्वेषण पूर्वक विवेचन किया है।

श्री तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन मे इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

तेरापथ का प्रसार, तत्सम्वन्धी साहित्य का प्रकाशन, अणुव्रत आन्दोलन का जन-जन मे सचार ट्रस्ट के उद्देश्यो मे से मुख्य है। इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अपनी उद्देश्यपूर्ति का जो महत्त्वपूर्ण कदम ट्रस्ट ने उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

जन-जन मे सत्तत्त्व-प्रसार, नैतिक जागरण की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिये चलने वाले इस ट्रस्ट के सस्थापन द्वारा प्रमुख समाजसेवी, साहित्यानुरागी श्री हनूतमलजी सुराना ने समाज के साधन सम्पन्न व्यक्तियो के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हे सादर धन्यवाद है।

आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिए कार्य करता आ रहा है, इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का प्रबन्धाभार ग्रहण कर अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

जैन परम्परा का इतिवृत्त जानने में यह पुस्तक विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ कृष्णा ११, २०१७

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

द्वितीय संस्करण

जैन परम्परा का इतिवृत जानने मे यह पुस्तक विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है, यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नही है। पुस्तक का द्वितीय सस्करण इसका ज्वलन्त प्रमाण है। हमे आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि साहित्यानुरागी समाज संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तको से लाभान्वित हो समय-समय पर इसका मार्ग-दर्शन करता रहेगा।

चूरू (राजस्थान)
भादव शक्ला १ स० २०२६

व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य सघ

विषयानुक्रमणिका

सामूहिक परिवर्तन

विश्व के कई भागो मे काल की अपेक्षा से जो सामूहिक परिवर्तन होता है, उसे 'क्रम-ह्रासवाद' या 'क्रम-विकासवाद' कहा जाता है। काल के परिवर्तन से कभी उन्नति और कभी अवनति हुआ करती है। उस काल के मुख्यतया दो भाग होते है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी।

अवसर्पिणी मे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, सस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पदार्थों की क्रमशः अवनति होती है।

उत्सर्पिणी में उक्त पदार्थों की क्रमशः उन्नति होती है। पर वह अवनति और उन्नति समूहापेक्षा से है, व्यक्ति की अपेक्षा से नही।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारम्भ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है। क्रमश. यह काल-चक्र चलता रहता है।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह भाग होते है :—

(१) एकान्त-सुषमा
(२) सुषमा
(३) सुषम-दुःषमा
(४) दुःषम-सुषमा
(५) दुःषमा
(६) दुःषम-दुःषमा

ये छह अवसर्पिणी के विभाग है। उत्सर्पिणी के छह विभाग इस व्यति-क्रम से होते है :—

(१) दुःषम-दुःषमा
(२) दुःषमा
(३) दुःषम-सुषमा
(४) सुषम-दुःषमा
(५) सुषमा
(६) एकान्त-सुषमा

आज हम अवसर्पिणी के पांचवें पर्व—दु:षमा मे जी रहे है । हमारे युग का जीवन-क्रम एकान्त-सुषमा से शुरू होता है । उस समय भूमि स्निग्ध थी । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे । मिट्टी का मिठास आज की चीनी से अनन्त-गुणा अधिक था । कर्म-भूमि थी किन्तु अभी कर्म-युग का प्रवर्तन नही हुआ था । पदार्थ अति स्निग्ध थे, इसलिए उस जमाने के लोग तीन दिन से थोड़ी-सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते । खाद्य-पदार्थ अप्राकृतिक नही थे । विकार बहुत कम थे, इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लम्बा होता था । वे तीन पल्य तक जीते थे । अकाल मृत्यु कभी नही होती थी । वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी । उनका शरीर तीन कोस ऊँचा होता था । वे स्वभाव से शान्त और सन्तुष्ट होते थे । यह चार कोड सागर का एकान्त सुखमय काल-विभाग बीत गया । तीन कोडाकोड सागर का दूसरा सुखमय भाग शुरू हुआ । इसमें भोजन दो दिन से होने लगा । जीवन-काल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊँचाई दो कोस की रह गई । इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी । काल और आगे बढा । तीसरे सुख-दुखमय काल-विभाग मे और कमी आ गई । एक दिन से भोजन होने लगा । जीवन का काल-मान एक पल्य हो गया और शरीर की ऊँचाई एक कोस की हो गई । इस युग की काल-मर्यादा थी एक कोडाकोड़ सागर । इसके अन्तिम चरण मे पदार्थों की स्निग्धता मे बहुत कमी हुई । सहज नियमन टूटने लगे, तब कृत्रिम व्यवस्था आई और इसी दौरान मे कुलकर-व्यवस्था को जन्म मिला ।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है । समाज-संगठन अभी हुआ नही था । यौगलिक व्यवस्था चल रही थी, एक जोडा ही सब कुछ होता था । न कुल था, न वर्ग और न जाति । समाज और राज्य की बात बहुत दूर थी । जन-सख्या कम थी । माता-पिता की मौत से दो या तीन मास पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पत्ति होता । विवाह-सस्था का उदय नही हुआ था । जीवन की आवश्यकताएँ बहुत सीमित थी । न खेती होती थी, न कपडा बनता था और न मकान बनते थे, उनके भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्प-वृक्ष थे, शृंगार और आमोद-प्रमोद, विद्या, कला और विज्ञान का कोई नाम

नही जानता था। न कोई वाहन था और न कोई यात्री। गांव बसे नही थे। न कोई स्वामी था और न कोई सेवक। शासक और शासित भी नही थे। न कोई शोषक था और न कोई शोषित। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु ही नही थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नही थे, उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शांत-स्वभाव वाले थे। चुगली, निन्दा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नही थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाए भी उत्पन्न नही हुई थी। लड़ने-झगड़ने की मानसिक ग्रन्थियाँ भी नही बनी थी। वे शस्त्र और शास्त्र दोनो से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था, मारकाट और हत्या नही होती थी। न संग्रह था, न चोरी और न असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शान्ति मे लीन रहते थे।

काल-चक्र का पहला भाग (अर) बीता। दूसरा और तीसरा भी लगभग बीत गया।

सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस चीनी से अनन्त-गुण मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गन्ध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई।

युगल मनुष्यो के शरीर का परिमाण भी घटता गया। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन करने की परम्परा भी टूटने लगी। कल्प-वृक्षो की शक्ति भी क्षीण हो चली।

यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनो की कहानी है।

कुलकर-व्यवस्था

असख्य वर्षो के बाद नए युग का आरम्भ हुआ। यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नही पाई। सक्रान्ति-काल चल रहा था। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जन-सख्या और जीवन की आवश्यकताए कुछ बढी। इस स्थिति मे आपसी सघर्ष और लूट-खसोट होने लगी। परिस्थिति की विवशता ने क्षमा, शान्ति,

सौम्य आदि सहज गुणो में परिवर्तन ला दिया । अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा ।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हे एक नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी । उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकाश हुआ । लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे । उन कुलो का मुखिया होता, वह कुलकर कहलाता । उसे दण्ड देने का अधिकार होता । वह सब कुलो की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओ का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियन्त्रण रखता—यह शासन-तन्त्र का ही आदि रूप था । सात या चौदह कुलकर आए । उनके शासन-काल मे तीन नीतियो का प्रवर्तन हुआ । सबसे पहले "हाकार" नीति का प्रयोग हुआ । आगे चलकर वह असफल हो गई तब "माकार" नीति का प्रयोग चला । उसके असफल होने पर "धिक्कार" नीति चली ।

उस युग के मनुष्य अति-मात्र ऋजु, मर्यादा-प्रिय और स्वयं शासित थे । खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते ।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला ही नही होता और पूरा बुरा ही नही होता । उसमे भलाई और बुराई दोनो के बीज होते है । परिस्थिति का योग पा वे अकुरित हो उठते है । देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति की सह-स्थिति का नाम है परिस्थिति । वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियो की उत्तेजना का हेतु बनती है । उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है ।

जीवन की आवश्यकताए कम थी, उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे । उस समय मनुष्य को सग्रह करने और दूसरो द्वारा अधिकृत वस्तु को हडपने की बात नही सूझी । इनके बीज उसमें थे, पर उन्हें अकुरित होने का अवसर नही मिला ।

ज्यो ही जीवन की थोड़ी आवश्यकताए बढी, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुए कि लोगो मे सग्रह और अपहरण की भावना उभर आई । जब तक लोग स्वय शासित थ, तब तक बाहर का शासन नही था । ज्यो-ज्यो स्वगत-शासन टूटता गया, त्यो-त्यो बाहरी शासन बढ़ता गया—यह कार्य-कारणवाद और एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है ।

विवाह-पद्धति

नाभि अन्तिम कुलकर थे। उनकी पत्नी का नाम था—'मरुदेवा'। उनके पुत्र का जन्म हुआ। उनका नाम रखा गया 'उसभ' या 'ऋषभ'। इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था। युगल के एक साथ जन्म लेने और मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई। उन्ही दिनो एक युगल जन्मा, थोडे समय बाद पुरुष चल बसा। स्त्री अकेली रह गई। इधर ऋषभ युवा हो गए। उनने परम्परा के अतिरिक्त उस कन्या को स्वय ब्याहा—यही से विवाह-पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के सिवा भी दूसरी कन्याओ से विवाह करने लगे।

समय ने करवट ली। आवश्यकता-पूर्ति के साधन सुलभ नही रहे। यौगलिको मे क्रोध, अभिमान, माया और लोभ बढने लगे। हाकार, माकार और धिक्कार-नीतियो का उल्लघन होने लगा। समर्थ शासक की मांग हुई।

कुलकर व्यवस्था का अन्त हुआ। ऋषभ पहले राजा बने। उन्होने अयोध्या को राजधानी बनाया। गाँवों और नगरो का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वासी से हट भवन-वासी बन गए। ऋषभ की क्रान्तिकारी और जन्मजात प्रतिभा से लोग नए युग के निर्माण की ओर चल पड़े।

ऋषभदेव ने उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय—ये चार वर्ग स्थापित किए। आरक्षक वर्ग 'उग्र' कहलाया। मत्री आदि शासन को चलाने वाले 'भोग', राजा के समस्थिति के लोग 'राजन्य' और शेष 'क्षत्रिय' कहलाए।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग मे लोगों की भोजन-सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल[1]। बढती हुई जन-सख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नही रहे और वन-वासी लोग गृह-वासी होने लगे। तब अनाज खाना सीखा। वे पकाना नही जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभदेव के पास पहुँचे और अपनी समस्या का उनसे समाधान मांगा। ऋषभदेव ने अनाज को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगो ने वैसा ही किया। कुछ

समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभदेव अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल में अग्नि उत्पन्न हो नही सकती। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष—दोनो काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नही होते। समय के चरण आगे बढे। काल स्निग्ध-रूक्ष बना तब वृक्षो की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई, वह फैली। बन जलने लगे। लोगो ने उस अपूर्व वस्तु को देखा और उसकी सूचना ऋषभदेव को दी। उनने पात्र-निर्माण और पाक-विद्या सिखाई। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

अध्ययन और विकास

राजा ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाए सिखाई। बाहुबली को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। बडी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियो और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थ-शास्त्र, चिकित्सा, क्रीड़ा-विधि आदि आदि का प्रवर्तन कर लोगो को सुव्यवस्थित और सुसस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि-आदि शिल्प का जन्म हुआ। अन्न-पाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ। वस्त्र-वृक्षो की कमी ने वस्त्र-शिल्प और गृहाकार कल्प-वृक्षो की कमी ने गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचो शिल्पो का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रो को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया[२]।

पदार्थ बढे, तब परिग्रह मे ममता बढी,[३] सग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढा[४]। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

राज्यतंत्र और दण्डनीति

कुलकर व्यवस्था मे तीन दण्ड-नीतियाँ प्रचलित हुई। पहले कुलकर

विमलवाहन के समय मे 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वय अनुशासित और लज्जाशील थे। "हा ! तूने यह क्या किया," ऐसा कहना गुरुतर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली।

तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय मे छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पांचवें, छठे और सातवें—प्रश्रेणि, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय मे 'धिक्कार' नीति और चली। छोटे अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलो को जो कल्पवृक्षो से प्रकृति-सिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शान्त और प्रसन्न थे, उनमे क्रोध का उदय होने लगा। आपस मे लडने-झगडने लगे। 'धिक्कार' नीति का उल्लघन होने लगा। जिन युगलो ने क्रोध, लडाई जैसी स्थितियां न कभी देखी और न कभी सुनी— वे इन स्थितियो से घबडा गए। वे मिले और ऋषभकुमार के पास पहुचे और मर्यादा के उल्लघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा—"इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।"

"राजा कौन होता है ?"—युगलो ने पूछा।

ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हें दी। युगलो ने कहा—"हम मे आप सर्वाधिक समर्थ है। आप ही हमारे राजा वनें।"

ऋषभकुमार बोले—"आप मेरे पिता नाभि के पास जाइये, उनसे राजा की याचना कीजिये। वे आपको राजा देंगे।" वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट गए[५]।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होने राज्य-सचालन के लिए नगर

बसाया। वह बहुत विशाल था और उसका निर्माण देवों ने किया था। उसका नाम रखा विनीता—अयोध्या। ऋषभ राजा बने। शेष जनता प्रजा बन गई। वे प्रजा का अपनी सन्तान की भाँति पालन करने लगे।

असाधु लोगो पर शासन और साधु लोगो की सुरक्षा के लिए उन्होने अपना मन्त्रि-मण्डल बनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए उन्होंने आरक्षक-दल स्थापित किया।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होने चतुरंग सेना और सेनापतियो की व्यवस्था की[६]।

साम, दाम, भेद और दण्ड-नीनि का प्रवर्त्तन किया[७]।

परिमाण—थोडे समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोधपूर्ण शब्दो मे अपराधी को "यही बैठ जाओ" का आदेश देना।

मण्डल-बन्ध—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर जाने का आदेश देना।

चारक—कैद मे डालना।

छविच्छेद—हाथ-पैर आदि काटना[८]।

ये चार दण्ड भरत के समय मे चले। दूसरी मान्यता के अनुसार इनमे से पहले दो ऋषभ के समय मे चले और अन्तिम दो भरत के समय[९]।

आवश्यक निर्युक्ति (गाथा २१७, २१८) के अनुसार बन्ध—(बेडी का प्रयोग) और घात—(डडे का प्रयोग) ऋषभ के राज्य मे प्रवृत्त हुए तथा मृत्यु-दण्ड भरत के राज्य मे चला।

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है—वैसे दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा[१०]। इन नीतियो मे राजतन्त्र जमने लगा और अधिकारी चार भागो मे बँट गए। आरक्षक-वर्ग के सदस्य 'उग्र', मन्त्रि-परिषद् के सदस्य 'भोग', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए[११]।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राज्यतन्त्र का अग बन गया। यह युगो तक विकसित होता रहा।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन

कर्त्तव्य वुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभदेव राज्य करने लगे। वहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अन्तिम भाग मे राज्य त्याग कर वे मुनि वने। मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ। यौगलिक काल मे क्षमा, सन्तोष आदि सहज धर्म ही था। हजार वर्ष की साधना के वाद भगवान् ऋषभदेव को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका—इन चार तीर्थो की स्थापना की। मुनि-धर्म के पॉच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के वारह व्रतो का उपदेश दिया। साधु-साध्वियो का सघ वना, श्रावक-श्राविकाए भी वनी।

साम्राज्य-लिप्सा और युद्ध का प्रारम्भ

भगवान् ऋषभदेव कर्म-युग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रो को अलग-अलग राज्यो का भार सौंप वे मुनि वन गए। सवसे वडा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् वनना चाहता था। उसने अपने ९९ भाइयो को अपने अधीन करना चाहा। सवके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस मे परामर्श कर भगवान् ऋषभदेव के पास पहुँचे। सारी स्थिति भगवान् के सामने रखी। द्विविधा की भाषा मे पूछा—भगवन्! क्या करें? वड़े भाई से लड़ना नही चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नही चाहते। भाई भरत ललचा गया है। आपके दिये हुए राज्यो को वह वापिस लेना चाहता है। हम उससे लडें तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जाएगी। विना लडे राज्य सौप दें तो साम्राज्य का रोग वढ जाएगा। परम पिता! इस द्विविधा से उवारिए। भगवान् ने कहा— पुत्रो! तुमने ठीक सोचा। लडना भी वुरा है और क्लीव वनना भी वुरा है। राज्य दो परो वाला पक्षी है। उसका मजवूत पर युद्ध है। उसकी उडान मे पहले वेग होता है अन्त में थकान। वेग मे से चिनगारियाँ उछलती है। उडाने वाले लोग उससे जल जाते है। उडने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप। पुत्रो! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध वुरा है—विजेता के लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गँवा कर पछताता है और विजेता कुछ नही पा कर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमे

स्वयं न जले—यह, कभी नही होता। राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हे कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हूँ? पुत्रो! मैं तुम्हे ऐसा राज्य देना चाहता हूं, जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियाँ जुड़ी हुई नही है।

भगवान् की आश्वासन भरी वाणी सुन वे सारे के सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एकटक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नही पकड सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारो से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उसकी कल्पना मे नही समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खण्ड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसीलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नही था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुंचने वाले ही भगवान् बनते है। सग्रह के चरम विन्दु पर पहुँच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नही है।

भगवान् ने कहा – सयम का क्षेत्र निर्वाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हे कोई अधीन करने आयेगा और न वहाँ युद्ध और कायरता का प्रसंग है।

पुत्रो ने देखा पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे है। पूर्व कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्ग-दर्शन का सम्मान किया। राज्य को त्याग स्वराज्य की ओर चल पड़े। इस राज्य की अपनी विशेषताए है। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है। जब तक व्यक्ति स्वराज्य की सीमा मे नही चला आता। एक सयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। सयम के आने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है इसका कोई। प्रतिद्वन्द्वी नही है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयो से क्षमा मांगी। स्वतन्त्रता पूर्वक अपना-अपना राज्य सम्हालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नही रहे थे। वे अकिञ्चन, जगत् के भाई बन चुके थे। भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नही ललचा सका। वे उसकी लालची आँखो को देख चुके थे। इसलिए उसकी

गीली आँखो का उन पर कोई असर नही हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के वाद सहसा नहीं वुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यो को अपने अधीन कर लिया। वाहुवलि को उसने नही छुआ। अट्ठानवें भाइयो के राज्य-त्याग को वह अव भी नही भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नही हुआ। असयम का जगत् ही ऐसा है, जहाँ सव कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिञ्चनता की अनुभूति होने लगती है।

क्षमा

दूत के मुह से भरत का सन्देश सुन वाहुवलि की भृकुटि तन गई। दवा हुआ रोप उभर आया। कांपते ओठो से कहा—दूत! भरत अव भी भूखा है? अपने अट्ठानवें सगे भाइयो का राज्य हडप कर भी तृप्त नही वना। हाय! यह कैसी हीन मनोदशा है। साम्राज्यवादी के लिए निपेध जैसा कुछ होता ही नहीं। मेरा वाहु-वल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यो को नही हड़प सकता? किन्तु यह मानवता का अपमान व शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भग है। मैं ऐसा कार्य नही कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता है। उनके पुत्रो को उसे तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिए। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् मे विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धान्त पनपा तो वच्चो और वूढो का क्या वनेगा? युवक उन्हे चट कर जाएगे। रोगी, दुर्वल और अपग के लिए यहाँ कोई स्थान नही रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र वन जाएगा। क्रूरता के साथी है, ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-अभी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर ढकेलना चाहता है? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रान्ता उससे वेभान हो दूसरो पर टूट पडता है।

भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा। अव उस उन्माद के रोगी का शिकार मैं हूं। हिंसा से हिंसा की आग नही वुझती—यह मैं जानता हूं। आक्रमण को मैं अभिशाप मानता हूं। किन्तु आक्रमणकारी को सहूं—यह मेरी तितिक्षा से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र

की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे भी निभाया है। तोड़नेवाला समझता ही नही तो आखिर जोड़ने वाला कब तक जोड़े ?

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुँच गई। इधर बाहुबलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आ गया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। सम्राट् के सेनानी ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लड़ाइयां होती रहीं। आखिर दोनों भाई सामने आ खड़े हुए। तादात्म्य आँखो पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनो ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनो विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रण-भूमि में उतर आये। दृष्टि-युद्ध, मुष्ठि-युद्ध आदि पांच प्रकार के युद्ध निर्णीत हुए। उन सब मे सम्राट् पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा को तोड बाहुबलि पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गये। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुदावलियो से गूज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खडा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना मे लग गये।

एक साथ लाखों कण्ठो से एक ही स्वर गूँजा—"महान् पिता के पुत्र भी महान् होते है। सम्राट् ने अनुचित किया पर छोटे भाई के हाथ से बडे भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा ? महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नही होता। महान् पिता के महान् पुत्र ! हमे क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।" इन लाखो कण्ठो की विनम्र स्वर-लहरियो ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का

शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नही लौटता। उसका प्रहार भरत पर नही हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के वाल उखाड फैके और अपने पिता के पथ की ओर चल पड़ा।

विनय

वाहुवलि के पैर आगे नही वढे। वे पिता की शरण मे चले गए पर उनके पास नहीं गए। अहकार अव भी वच रहा था। पूर्व दीक्षित छोटे भाइयो को नमस्कार करने की वात याद आते ही उनके पैर रुक गए। वे एक वर्ष तक ध्यान मुद्रा मे खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाए अनगिनत होती है। असतोष पर विजय पाने वाले वाहुवलि अह से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अह ने उन्हे पीछे ढकेल दिया। वहुत लम्वी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी वे आगे नही वढ सके।

"ये पैर स्तब्ध क्यो हो रहे हैं ? सरिता का प्रवाह रुक क्यो रहा है ? इन चट्टानो को पार किए विना साध्य पूरा होगा ?" ये शब्द वाहुवलि के कानो को वीध हृदय को पार कर गए। वाहुबलि ने आँखें खोली। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी है। वहिनो की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आँखें झुक गई। अवस्था से छोटे-वडे की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नही है। ये मेरे पैर गणित के छोटे से प्रश्न मे उलझ गए। छोटे भाइयो को मैं नमस्कार कैसे करूँ—इस तुच्छ चिन्तन मे मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और वडप्पन के मानदण्ड वदल जाते है। वे भाई मुझसे छोटे नही है। उनका चारित्र विशाल है। मेरे अह ने मुझे और छोटा वना दिया। अव मुझे अविलम्व भगवान् के पास चलना चाहिए।

पैर उठे कि वन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष मे समता का प्रवाह वह चला। वे केवली वन गए। सत्य का साक्षात् ही नही हुआ, वे स्वय सत्य वन गए। शिव अव उनका साध्य नही रहा, वे स्वय शिव वन गए। आनन्द अव उनके लिए प्राप्य नही रहा, वे स्वय आनन्द वन गए।

अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा ही हो गया। भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थ-वान् नही रहा। वह सम्राट बना रहा किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्यवादी नही रहा। पदार्थ मिलते रहे पर आसक्ति नही रही। वह उदासीन भाव से राज्य सचालन करने लगा।

भगवान् अयोध्या आए। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—"भरत मोक्षगामी है।" एक सदस्य भगवान् पर बिगड गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फांसी की सजा दे दी। वह घबड़ा गया। भरत के पैरों मे गिर पडा और अपराध के लिए क्षमा मांगी। भरत ने कहा—तैल भरा कटोरा लिए सारे नगर में घूम आओ। तैल की एक बूँद नीचे न डालो तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नही है।

अभियुक्त ने वैसा ही किया। बड़ी सावधानी से नगर में घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट ने पूछा—नगर में घूम आये? जी, हाँ। अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट—नगर में कुछ देखा तुमने?

अभियुक्त—नही, सम्राट्! कुछ भी नही देखा।

सम्राट—कई नाटक देखे होगे?

अभियुक्त—जी, नही। मौत के सिवाय कुछ भी नही देखा!

सम्राट—कुछ गीत तो सुने होगे?

अभियुक्त—सम्राट की साक्षी से कहता हूँ। मौत की गुनगुनाहट के सिवाय कुछ भी नही सुना।

सम्राट—मौत का इतना डर?

अभियुक्त—सम्राट इसे क्या जाने? यह मृत्यु-दण्ड पाने वाला ही समझ सकता है।

सम्राट—क्या सम्राट अमर रहेगा? कभी नही। मौत के मुँह से कोई नही बच सकता। तुम एक जीवन की मौत से डर गए। न तुमने नाटक देखे और

न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ। यह साम्राज्य मुझे नही लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आँखो ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्यु-दड उसके लिए केवल शिक्षा-प्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नान-घर मे गए, अगूठी खोली। अंगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ गई। पर पदार्थ से शोभा बढती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है—इस चिन्तन मे लगे और लगे सहज सौन्दर्य को ढूँढने। भावना का प्रवाह आगे बढा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणों मे ही मुनि बने, वीतराग बने और केवली बने। भावना की शुद्धि ने व्यवहार की सीमा तोड दी। न वेष बदला, न राज-प्रासाद से बाहर निकले किन्तु उनका आन्तरिक संयम उनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चले पडे।

ऋषभदेव के पश्चात्

काल का चौथा 'दु ख-सुखमय' चरण आया। बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोड सागर तक रहा। इस अवधि मे कर्म-क्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ और धर्म-सम्प्रदाय भी बहुत फले-फूले। जैन धर्म के बीस तीर्थंङ्कर और हुए, यह सारा वर्णन प्राग् ऐतिहासिक युग का है। इतिहास अनन्त—अतीत की चरण-धूलि को भी नही छू सका है। वह पाँच हजार वर्ष को भी कल्पना की आँख से देख पाता है।

सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नही है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर के पूर्व का नही है। पर थोडा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसी मे मिश्रित है, यह बहुत सभव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नही है।

वेदों का अस्तित्व ५ हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध-साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखा-चित्र खीचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे[१२]।

जैन आगमो के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे[13]। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो धारणा का उपदेश दिया है, वह विचार जैन-परम्परा से भिन्न नही है। तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-सशित—अतिसूक्ष्मप्राण हैं। इस त्रयी को सुन कर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओ के प्रति तृष्णा-हीन हो गए[१४]। वेदो में आत्मा की स्थिर मान्यता का प्रतिपादन नही है। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर ही अवस्थित है[१५]। संभव है अरिष्टनेमि ही वैदिक साहित्य मे आंगिरस के रूप मे उल्लिखित हुए हो अथवा वे अरिष्टनेमि के ही विचारो से प्रभावित कोई दूसरे व्यक्ति हो।

कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सम्बन्ध भी था। अरिष्टनेमि समुद्र-विजय और कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया[१६]। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे[१७]। राजिमती को भी दीक्षा के समय मे उन्होने भावुक शब्दो मे आशीर्वाद दिया[१८]।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली[१९]।

कृष्ण की ८ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुई[२०]। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने[२१]। अरिष्टनेमि के और कृष्ण के वार्तालापो, प्रश्नोत्तरी और विविध चर्चाओ के अनेक उल्लेख मिलते है[२२]।

वेदो मे कृष्ण के देव-रूप की चर्चा नही है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है[२३]। पौराणिक काल मे कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्व-शक्तिमान् देव बन जाते है। कृष्ण के यथार्थ-रूप का

वर्णन जैन आगमो मे मिलता है[२४]। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

दो

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष है । उनका तीर्थ प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ । भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी । भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे । भगवान् महावीर ने समय की मांग को पहचान पच महाव्रत का उपदेश दिया । भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य भगवान् महावीर व उनके शिष्यो से मिले, चर्चाएँ की ओर अन्ततः पचयाम 'स्वीकार कर भगवान् महावीर के तीर्थ मे सम्मिलित हो गए ।

धर्मानन्द कौसम्वी ने भगवान् पार्श्व के वारे मे कुछ मान्यताए प्रस्तुत की है[1] :—

"ज्यादातर पाश्चात्य पण्डितो का मत है कि जैनो के २३ वें तीर्थंकर पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे । उनके चरित्र मे भी काल्पनिक वातें है । पर वे पहले तीर्थंकरो के चरित्र मे जो वातें है, उनसे वहुत कम है । पार्श्व का शरीर ९ हाथ लम्वा था । उनकी आयु १०० वर्ष की थी । सोलह हजार साधु-शिष्य, अड़तीस हजार साध्वी-शिष्याएँ, एक लाख चौसठ हजार श्रावक तथा तीन लाख उनतालीस हजार श्राविकाए इनके पास थी । इन सव वातो मे जो मुख्य ऐतिहासिक वात है, वह यह है कि चौवीसवें तीर्थंकर वर्धमान के जन्म के एक सौ अठहत्तर साल पहले पार्श्व तीर्थंकर का परिनिर्वाण हुआ ।

वर्धमान या महावीर तीर्थंकर वुद्ध के समकालीन थे, इस वात को सव लोग जानते है । वुद्ध का जन्म वर्धमान के जन्म के कम से कम १५ साल वाद हुआ होगा । इसका अर्थ यह हुआ कि वुद्ध का जन्म तथा पार्श्व तीर्थंकर का परिनिर्वाण इन दोनो में १९३ साल का अन्तर था । मरने के पूर्व लगभग ५० साल तो पार्श्व तीर्थंकर उपदेश देते रहे होगे । इस प्रकार वुद्ध-जन्म के करीव दो सौ तैतालीस वर्ष पूर्व पार्श्व मुनि ने उपदेश देने का काम शुरू किया । निर्ग्रन्थ श्रमणो का सघ भी पहले-पहल उन्होने स्थापित किया होगा ।

ऊपर दिखाया जा चुका है कि परीक्षित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियों के पूर्व नही जा सकता[२]। परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरु देश मे महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी देश मे पार्श्व एक नई सस्कृति की नीव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर मे अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रन्थो में आई है[३]। उस समय राजा ही अधिकारी, जमीदार हुआ करता था। इसलिए ऐसे राजा के यह लड़का होना कोई असम्भव बात नही है। पार्श्व की नई सस्कृति काशी राज्य मे अच्छी तरह टिकी रही होगी क्योकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यो को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पडा था।

पार्श्व का धर्म विल्कुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह—इन चार बातो के त्याग करने का उपदेश देते थे[४]। इतने प्राचीन काल मे अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दश आज्ञाए (Ten Commandments) सुनाई, उनमे हत्या मत करो, इसका भी समावेस था। पर उन आज्ञाओ को सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन मे घुसे और वहाँ खून की नदियाँ बहाई। न जाने कितने लोगो को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियो को पकड कर आपस मे बांट लिया। इन बातो को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाय ? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नही।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीनो नियमो के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियो के आचरण तक ही थी और जनता के व्यवहार मे जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमो के सम्बन्ध से सामाजिक एव व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होने सघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के

समय जो सघ विद्यमान थे, उन सबो मे जैन साधु और साध्वियो का संघ सबसे बडा था ।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणो के बड़े-बडे समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जगलो मे तपस्या करने वालो के सघ भी थे। तपस्या का एक अग समझ कर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज मे उसका उपदेश नही देते थे। वे लोगो से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

बुद्ध के समय जो श्रमण थे, उनका वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ पर इतना ही दिखाना है कि बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊब कर जगलो मे जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषो को देखने वाले तीसरे प्रकार के भी सन्यासी थे और उन लोगो मे पार्श्व मुनि के शिष्यो को पहला स्थान देना चाहिए।'

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ है। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निर्ग्रन्थ श्रमणो के सघ भगवान् ऋषभदेव से ही रहे है, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे है। इतिहास की दृष्टि से कौसम्बीजी की सघबद्धता सम्बन्धी धारणा सच भी है।

भगवान् महावीर

संसार जुआ है। उसे खीचने वाले दो बैल है—जन्म और मौत। संसार का दूसरा पार्श्व है—मुक्ति। वहाँ जन्म और मौत दोनो नही। वह अमृत है। वह अमरत्व की साधना का साध्य है। मनुष्य किसी साध्य की पूर्ति के लिए जन्म नही लेता। जन्म लेना ससार की अनिवार्यता है। जन्म लेने वाले मे योग्यता होती है, सस्कारो का संचय होता है। इसलिए वह अपनी योग्यता के अनुकूल अपना साध्य चुन लेता है। जिसके जैसा विवेक, उसके वैसा ही साध्य

और वैसी ही साधना—एक तथ्य है। इसका अपवाद कोई नहीं होता। भगवान् महावीर भी इसके अपवाद नही थे।

जन्म और परिवार

दुषमा-सुषमा (चतुर्थअर) पूरा होने में ७४ वर्ष ११ महीने ७॥ दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र का महीना था। शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि की वेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। यह ई० पूर्व ५९९ की बात है। भगवान् की माता त्रिशला क्षत्रियाणी और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे। भगवान् की जन्म-भूमि क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर था। वैशाली, वाणिज्यग्राम, ब्राह्मण-कुण्डनगर, क्षत्रिय-कुण्डग्राम जन्मभूमि के बारे मे तीन मान्यताएं है[५]।

१—श्वेताम्बर मान्यता

"प्राचीन मान्यतानुसार लखीसराय स्टेशन से नैऋत्य दक्षिण में १८ मील, सिकन्दरा से दक्षिण मे २ मील, नवादा से पूर्व में ३८ मील औत जमुई से पश्चिम में १४ मील दूर नदी के किनारे लछवाड़ गॉव है, जो लिच्छवियों की भूमि थी। यहॉ जैन पाठशाला है और भगवान् महावीर स्वामी का मन्दिर भी। लछवाड से दक्षिण में तीन मील पर नदी किनारे कुडेघाट है। वहॉ भगवान् महावीर के दीक्षा-स्थान पर दो जैन मन्दिर है औश भाया तलहटी भी है। वहॉं से एक देवड़ा की, दो किंदुआ की, एक सकसकिया की और तीन चिकना की—ऐसी कुल सात पहाडी घाटियॉ है, जिन्हे पार करने पर ३ मील दूर 'जन्म-स्थान' नामक भूमि है। वहां भगवान् महावीर स्वामी का मन्दिर है। चिकना के चढाव से पूर्व मे ६ मील जाने पर लोधापानी नामक स्थान आता है। वहॉं शीतल जल का झरना है, पुराना पक्का कुआँ है, पुराने खडहर है और टीला भी, जिसमे से पुरानी गजिया ईंटें मिलती है। वास्तव में यही भगवान् महावीर का 'जन्म स्थान' है। जिसका दूसरा नाम 'क्षत्रियकुड' है। किसी भी कारणवस क्यो न हो पर आज वहॉ पर कोई मन्दिर नही है बल्कि जहॉ मन्दिर है, वहॉ २५० वर्ष पहले भी वह था और उसके पूर्व में ३ कोस पर क्षक्षियकुंड-स्थान माना जाता था—यह उस समय की तीर्थ-भूमियो के उल्लेख से बराबर जान सकते है।

से बराबर जान सकते है। अर्थात् लोधापानी का स्थान ही असली क्षत्रियकुड की भूमि है।"

२—दिगम्बर-मान्यता

कई बातो मे दिगम्बर-सघ, श्वेताम्बर-सघ से बिलकुल अलग मत रखता है। वैसे ही कई एक तीर्थ-भूमियो के बारे मे भी अपना अलग विचार रखता है। दिगम्बर सम्प्रदाय भगवान् महावीर का जन्म-स्थान कुँडपुर मे मानता है पर उसका अर्थ 'कुँडलपुर' ही करते है। राजगृही व नालन्दा के पास आया कुँडल-पुर ही उनकी वास्तविक जन्म-भूमि है।

श्वेताम्बर सघ इस कुँडलपुर को 'बडगाँव' के नाम से पहचानता है, जिसके दूसरे नाम गुब्बरगाँव (गुब्बर ग्राम) तथा कुँडलपुर है। सवत् १६६४ मे यहाँ पर कुल १६ जिनालय थे, किन्तु आज केवल एक श्वेताम्बर जिनालय, धर्मशाला और उसके बीच का श्री गौतम स्वामी का पादुका-मन्दिर है।

दिगम्बर मान्यतानुसार नालन्दा स्टेशन से पश्चिम मे २ मील पर आया कुँडलपुर ही भगवान् महावीर का जन्मस्थान—क्षत्रियकुण्ड है।

३—पाश्चात्य विद्वानो की मान्यता

"पाश्चात्य सशोधक विद्वद्-वर्ग क्षत्रियकुण्ड के विषय मे तीसरा ही मत रखता है। उनका कहना है कि वैशाली नगरी, जिसका वर्तमान मे बेसाउपट्टी नाम है अथवा उसका उपनगर ही वास्तविक क्षत्रियकुण्ड है।

सर्व प्रथम उपरोक्त मान्यता को डा० हर्मन जैकोबी तथा डा० ए० एफ० आर० होर्नले आदि ने करार दिया तथा पुरातत्त्ववेत्ता पडित श्री कल्याण-विजयजी महाराज एव इतिहास-तत्त्व-महोदधि आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी ने एक स्वर से अनुमोदन किया। फलत यह मत सशोधित रूप मे अधिक विश्वसनीय बनता जा रहा है।"

कोल्लाग-सन्निवेश—ये उसके पार्श्ववर्ती नगर और गांव थे।

त्रिशला वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक की बहन थी। सिद्धार्थ क्षत्रिय-कुण्ड ग्राम के अधिपति थे।

भगवान् के बडे भाई का नाम नन्दिवर्धन था। उनका विवाह चेटक की

पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था[६]। भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बडी बहन का नाम सुदर्शना था[७]।

नाम और गोत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ मे आए, तब से सम्पदाएँ बढ़ी, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा[८]। वर्धमान ज्ञात नामक क्षत्रियकुल मे उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम ज्ञात-पुत्र हुआ[९]।

साधना के दीर्घकाल मे उन्होने अनेक कष्टो का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नही हुए। इसलिए उनका नाम महावीर हुआ[१०]। यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ कश्यप-गोत्रीय क्षत्रिय थे[११]। पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर कश्यप-गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

बाल-क्रीड़ा के बाद अध्ययन का समय आता है। तीर्थंकर गर्भ-काल से ही अवधि-ज्ञानी होते है। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे[१२]। वे पढने के लिए गए। अध्यापक जो पढाना चाहता था, वह उन्हे ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वय सिद्ध है। आपको पढ़ने की आवश्यकता नही।

यौवन आया। महावीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नही थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होने विवाह किया[१३]।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय कन्या यशोदा के साथ हुआ[१४]। उनके प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई[१५]। उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र (अपने भानजे) जमालि के साथ किया[१६]।

उनके एक शेषवती (दूसरा नाम यशस्वती) नाम की दौहित्री—धेवती हुई[१७]। वे गृहस्थी में रहे पर उनकी वृत्तियाँ अनासक्त थी।

महाभिनिष्क्रमण

वे जब २८ वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया[१८]। उन्होने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उनने महावीर से घर मे रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर मे रहे। यह जीवन उनका एकान्त-विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होने कच्चा जल पीना छोड दिया, रात्रि-भोजन नही किया और ब्रह्मचारी रहे[१९]।

३० वर्ष की अवस्था मे उनका अभिनिष्क्रमण हुआ। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल गए। आज से सब पाप-कर्म अकरणीय है—इस प्रतिज्ञा के साथ वे श्रमण बने[२०]।

शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति था उसका सहचर परिणाम। उन्होने बारह वर्ष तक शान्त, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

जहाँ हित है, अहित है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा? जहाँ यथार्थवाद है, अर्थवाद है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा?

यह पूछा—श्रमणो ने, ब्राह्मणो ने, गृहस्थो ने और अन्यान्य दार्शनिको ने जम्बू से और जम्बू ने पूछा सुधर्मा से। यह प्रश्न अहित से तपे और अर्थवाद से ऊबे हुए लोगो का था।

जम्बू बोले—गुरुदेव! मेरी जिज्ञासाएँ उभरती आ रही है। लोग भगवान् महावीर के धर्म को गहरी श्रद्धा से सुन रहे है। उनके जीवन के बारे मे बडे कुतूहल भरे प्रश्न पूछ रहे है। उनने मुझमे भी कुतूहल भर दिया है। मैं उनके जीवन का दर्शन चाहता हूँ। आपने उनको निकटता से देखा है, सुना है, निश्चय किया है, इसलिए मैं आपसे उनके ज्ञान, श्रद्धा और शील के बारे मे कुछ सुनना चाहता हूँ।

सुधर्मा बोले—जम्बू! जिस धर्म से दूसरे लोगो को और मुझे महावीर के जीवन-दर्शन की प्रेरणा मिली है, उसका महावीर के पौद्गलिक जीवन से लगाव नही है।

आध्यात्मिक जगत् मे ज्ञान, दर्शन, और शील की सगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी और खेदज्ञ थे—यह है उनके यशस्वी जीवन का दर्शन। जो दूसरो के खेद को नही जानता, वह अपने खेद को भी नही जानता। जो दूसरो की आत्मा मे विश्वास नही करता, वह अपने आपमे भी विश्वास नही करता।

भगवान् महावीर ने आत्मा को आत्मा से तोला। वे आत्म-तुला के मूर्त्त-दर्शन थे। उनने खेद सहा, किन्तु किसी को खेद दिया नही। इसलिए वे खेदज्ञ थे। उनकी खेदज्ञता से धर्म का अजस्र प्रवाह बहा।

भगवान् महावीर का जीवन घटना-बहुल नही, तपस्या-बहुल है। वे दीर्घ तपस्वी थे। उनका जीवन-दर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नही है। वह उनकी साधना से फूटा है।

उनने देखा—ऊपर, नीचे और बीच मे सब जगह जीव है। वे चल भी है और अचल भी। वे नित्य भी है और अनित्य भी। आत्मा कभी अनात्मा नही होती, इसलिए वह नित्य है। पर्याय का विवर्त्त चलता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। जन्म और मौत उसीके दो पहलू है। दोनो दु ख है, दु ख का हेतु विषमता है। विषमता का बीज है—राग और द्वेष। भगवान् ने समता धर्म का निरूपण किया। उसका मूल है—वीतराग-भाव।

भगवान् ने सबके लिए एक धर्म कहा। बडो के लिए भी और छोटो के लिए भी।

भगवान् ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद आदि सभी वादो को जाना और फिर अपना मार्ग चुना[२१]। वे स्वय-सम्बुद्ध थे। भगवान् निर्ग्रन्थ बनते ही अपनी जन्म-भूमि से चल पड़े। हेमन्त ऋतु था। भगवान् के पास केवल एक देव-दूष्य वस्त्र था। भगवान् ने नही सोचा कि सर्दी मे मैं वह वस्त्र पहनूँगा। वे कष्ट-सहिष्णु थे। तेरह महीनो तक वह वस्त्र भगवान् के पास रहा। फिर उसे छोड भगवान् पूर्ण अचेल हो गए। वे पूर्ण असग्रही थे।

काटने वाले कीड़े भगवान् को चार महीने तक काटते रहे। लहू पीते और मांस खाते रहे। भगवान् अडोल रहे। वे क्षमा-शूर थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक किसी लक्ष्य पर आँखे टिका ध्यान करते। उस समय गांव के बाल-बच्चे उधर से आ निकलते और भगवान् को देखते ही हल्ला मचाते, चिल्लाते। फिर भी वे स्थिर रहते। वे ध्यान-लीन थे।

भगवान् को प्रतिकूल कष्टो की भांति अनुकूल कष्ट भी सहने पडते। भगवान् जब कभी जनाकीर्ण बस्ती मे ठहरते, उनके सौन्दर्य से ललचा अनेक ललनायें उनका प्रेम चाहती। भगवान् उन्हे साधना की बाधा मान उनसे परहेज करते। वे स्व-प्रवेशी (आत्म-लीन) थे।

साधना के लिए एकान्तवास और मौन—ये आवश्यक है। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरो का हित नही साध सकता। स्वय अपूर्ण पूर्णता का मार्ग नही दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थो से मिलना-जुलना छोड ध्यान करते, पूछने पर भी नही बोलते। लोग घेरा डालते तो वे दूसरी जगह चले जाते।

कई आदमी भगवान् का अभिवादन करते। फिर भी वे उनसे नही बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हे भी वे कुछ नही कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या – जो सबके लिए सुलभ नही है, मे रम रहे थे।

भगवान् असह्य कष्टो को सहते। कठोरतम कष्टो की वे परवाह नही करते। व्यवहार-दृष्टि मे उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतो मे जरा भी नही ललचाते। दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि लडाइयाँ देखने को उत्सुक भी नही होते।

सहज आनन्द और आत्मिक चैतन्य जागृत नही होता, तब तक बाहरी उपकरणो के द्वारा आमोद पाने की चेष्टा होती है। जिनके चैतन्य का पर्दा खुल जाता है, सहज सुख का स्रोत फूट पडता है—वे नीरस होते ही नही। वे सदा समरस रहते है। बाहरी साधनो के द्वारा अन्तर के नीरस भाव को सरस बनाने का यत्न करनेवाले भले ही उसका मूल्य न आक सकें।

भगवान् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा मे भाग नही लेते। उन्हे मध्यस्थ भाव से टाल देते। ये सारे कष्ट अनुकूल और प्रतिकूल, जो साधना के पूर्ण विराम है, भगवान् को लक्ष्य-च्युत नही कर सके।

भगवान् ने विजातीय तत्त्वो (पुद्गल-आसक्ति) को न शरण दी और न उनकी शरण ली । वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे ।

निरपेक्षता का आधार वैराग्य-भावना है । रक्त-द्विष्ट आत्मा के साथ अपेक्षाएँ जुडी रहती है । अपेक्षा का अर्थ है—दुर्बलता । व्यक्ति का सबल और दुर्बल होने का मापदण्ड अपेक्षाओं की न्यूनाधिकता है ।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओ को ठुकराने लगे । सजीव पानी पीना छोड दिया, अपना अकेलापन देखने लग गए, क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शान्त कर डाला । सम्यग्-दर्शन का रूप निखर उठा । पौद्गलिक आस्थाए हिल गई ।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवो का अस्तित्व जाना । उन्हे सजीव मान उनकी हिंसा से विलग हो गए ।

अचर जीव दूसरे जन्म मे चर और चर जीव दूसरे जन्म मे अचर हो सकते है । राग-द्वेष से बधे हुए सब जीव सब प्रकार की योनियो मे जन्म लेते रहते है ।

यह संसार रग-भूमि है । इसमें जन्म-मौत का अभिनय होता रहता है । भगवान् ने इस विचित्रता का चिन्तन किया और वे वैराग्य की दृढ भूमिका पर पहुँच गए ।

भगवान् ने ससार के उपादान को ढूढ निकाला । उसके अनुसार उपाधि परिग्रह से बधे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते है । कर्म ही ससार-भ्रमण का हेतु है । वे कर्मो के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गए । भगवान् ने स्वय अहिंसा को जीवन मे उतारा । दूसरो को उसका मार्ग-दर्शन दिया । वासना को सर्व कर्म-प्रवाह का मूल मान भगवान् ने स्त्री-सग छोडा ।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनो साधना के आधारभूत तत्त्व है । अहिंसा अवैर साधना है । ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है । अवैर भाव के बिना आत्म साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्ग-दर्शन नही हो सकता । इसलिए भगवान् ने उन पर बडी सूक्ष्म दृष्टि से मनन किया ।

भगवान् ने देखा—बन्ध कर्म से होता है । उनने पाप को ही नही, उसके मूल को ही उखाड फेंका ।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नही लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य – इन दोनो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य मे बाधा डालने वाला आहार भी सदोप है। आहार की मीमासा मे अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है। भगवान् आहार-पानी की मात्रा के जानकार थे। रस-गृद्धि से वे किनारा करते रहे। वे जीमनवार मे नही जाते और दुर्भिक्ष भोजन भी नही लेते। उनने सरस भोजन का सकल्प तक नही किया। वे सदा अनासक्त और यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन करते रहे। भगवान् ने अनाशक्ति के लिए शरीर की परिचर्या को भी त्याग रखा था। वे खाज नही खनते। आँख को भी साफ नही करते। भगवान् सग-त्याग की दृष्टि से गृहस्थ के पात्र मे खाना नही खाते और न उनके वस्त्र ही पहनते।

भगवान् का दृष्टि-सयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नही देखते, पीछे नही देखते, बुलाने पर भी नही बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी मे नगे बदन घूमते। सर्दी से डरे बिना हाथो को फैला कर चलते। भगवान् अप्रतिबन्धविहारी थे, परिव्राजक थे। बीच-बीच मे शिल्प-शाला, सूना घर, झोपडी, प्रपा, दुकान, लोहकारशाला, विश्राम गृह, आराम-गृह, श्मशान, वृक्ष-मूल आदि स्थानो मे ठहरते। इस प्रकार भगवान् बारह वर्ष और साढे छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे। भगवान् साधना-काल मे समाहित हो गए। वे अपने-आप मे समा गए। भगवान् दिन-रात यतमान रहते। उनका अन्त करण सतत क्रिया-शील या आत्मान्वेषी हो गया।

भगवान् अप्रमत्त बन गए। वे भय और दोपकारक प्रवृत्तियो से हट सतत जागरूक बन गए।

ध्यान करने के लिए समाधि (आत्म-लीनता या चित्त-स्वास्थ्य), यतना और जागरूकता—ये सहज-अपेक्षित है। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान के अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के

सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान ने नीद पर भी विजय पाली। वे दिन-रात का अधिक भाग खड़े रह कर ध्यान मे विताते। विश्राम के लिए थोडे समय लेटते, तब भी नीद नही लेते। जब कभी नीद सताने लगती तो भगवान् फिर खडे होकर ध्यान मे लग जाते। कभी-कभी तो सर्दी की रातो मे घडियो तक बाहर रह कर नीद टालने के लिए ध्यान-मग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल में सिर्फ एक मुहूर्त्त तक नीद ली। शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण मे बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चड-कौशिक साँप ने उन्हे काट खाया। और भी साँप, नेवले आदि सरीसृप जाति के जन्तु उन्हे सताते। पक्षियो ने उन्हे नोचा।

भगवान् को मौन और शून्य गृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पडे। ग्राम-रक्षक, राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियो का कोप-भाजन बनना पडा। उनने कुछ प्रसगों पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया।

भगवान् अबहुवादी थे। वे प्राय मौन रहते थे। आवश्यकता होने पर भी विशेष नहीं बोलते। एकान्तस्थान में उन्हे खड़ा देख लोग पूछते—तुम कौन हो? तब भगवान् कभी-कभी बोलते। भगवान् के मौन से चिढ कर वे उन्हें सताते। भगवान् क्षमा-धर्म को स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि (मानसिक सन्तुलन या स्वास्थ्य) को भी नही खोते।

कभी-कभी भगवान् प्रश्नकर्ता को संक्षिप्त सा उत्तर भी देते। मैं भिक्षु हूँ, यह कह कर फिर अपने ध्यान मे लीन हो जाते।

देवो ने भी भगवान् को अछूता नही छोडा। उनने भी भगवान् को घोर उपसर्ग दिये। भगवान् ने गन्ध, शब्द और स्पर्श सम्बन्धी अनेक कष्ट सहे।

सामान्य बात यह है कि कष्ट किसी के लिए भी इष्ट नही होता। स्थिति यह है कि जीवन मे कष्ट आते है। फिर वे प्रिय लगें या न लगें। कुछ व्यक्ति कष्टो को विशुद्धि के लिए वरदान मान उन्हें हँस-हँस झेल लेते है। कुछ व्यक्ति

अधीर हो जाते है। अधीर को कष्ट सहन करना पडता है, धीर कष्ट को सहते है।

साधना का मार्ग इससे और आगे है। वहाँ कष्ट निमन्त्रित किये जाते है। साधनाशील उन्हें अपने भवन का दृढ स्तम्भ मानते है। कष्ट आने पर साधना का भवन गिर न पडे, इस दृष्टि से वह पहले ही उसे कष्टो के खभो पर खडा करता है। जो जान-बूझ कर कष्टो को न्यौता दे, उसे उनके आने पर अरति और न आने पर रति नही हो सकती। अरति और रति—ये दोनो साधना की बाधाएँ है। भगवान् महावीर इन दोनों को पचा लेते थे। वे मध्यस्थ थे।

मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके।

भगवान् तृण-स्पर्श को सहते। तिनको के आसन पर नगे बदन बैठते और लेटते और नगे पैर चलते तब वे चुभते। भगवान् उनकी चुभन से घबरा कर वस्त्र-धारी नही बने।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा। शिशिर मे जब ठण्डी हवाए फुकारें मारती लोग उनके स्पर्शमात्र से काँप उठते, दूसरे साधु पवन-शून्य (निर्वात) स्थान की खोज मे लग जाते और कपड़ा पहनने की बात सोचने लग जाते, कुछ तापस धूनी तप सर्दी से बचते, कुछ लोग ठिठुरते हुए किवाड को बन्द कर विश्राम करते, वैसी कडी और असह्य सर्दी मे भी भगवान् शरीर-निरपेक्ष होकर खुले बरामदो और कभी-कभी खुले द्वार वाले स्थानो में बैठ उसे सहते।

भगवान् ने आतापनाएं ली। सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा। वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर व क्षुद्र जन्तु काटते। वे उसे समभाव से सह लेते।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही। वे वैसे जनपदो में गए, जहाँ के लोग जैन साधुओं से परिचित नही थे[२२]। वहाँ भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टो को हसते-हसते सहा। वहाँ के लोग रूक्ष-भोजी थे, इसलिए उनमे क्रोध की मात्रा अधिक थी। उसका फल भगवान् को भी सहना पडा। भगवान् वहाँ के लिये पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हें एक ओर से दूसरी ओर सुविधापूर्वक नही जाने देते। बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते। तब कुछ एक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते। बहुत से लोग ऐसे थे

जो कुत्तो को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते। वहाँ जो दूसरे श्रमण थे, वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तो के उपद्रव से मुक्त नही थे। भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नही था, फिर भी वे शान्तभाव से वहाँ घूमते रहे।

भगवान् का संयम अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा में भी अवमौदर्य करते (कम खाते), रोग होने पर भी वे चिकित्सा नही करते, औषध नही लेते। वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, दतौन आदि नही करते। उनका पथ इन्द्रिय के कांटो से अबाध था। कम खाना और औषध न लेना स्वास्थ्य के लिए हित-कर है। भगवान् ने वह स्वास्थ्य के लिए नही किया। वे वही करते जो आत्मा के पक्ष में होता। उनकी सारी कठोरचर्या आत्म-लक्षी थी। अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया, कषाय को जीता, आसक्ति को जीता, यह सब निरपेक्ष भाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी का योग था। उस वेला में भगवान् महावीर जभियग्राम नगर के बाहर ऋजु-बालिका नदी के उत्तर किनारे श्याम गाथापति की कृषि-भूमि मे व्यावृत नामक चैत्य के निकट, शाल-वृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुह कर सूर्य का आताप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे। ध्यान का उत्कर्ष बढा। खपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रान्त बन गए। उत्क्रान्ति के कुछ ही क्षणो मे वे आत्म-विकास की आठ, नौ और दशवी भूमिका को पार कर गये। बारहवी भूमिका में पहुँचते ही उनके मोह का बन्धन पूर्णा शतः टूट गया। वे वीतराग बन गए। तेरहवी भूमिका का प्रवेश-द्वार खूला। वहाँ ज्ञानावरण, दर्शना वरण और अन्तराय के सम्बन्ध भी पूर्णतः टूट पड़े।

भगवान् अब अनन्त ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी और अनन्त-वीर्य बन गए।

अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवों के, सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो चुका। अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा में पहुँच गए[२३]। तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली बन गए।

तीर्थ-प्रवर्त्तन

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया। देव अति विलासी होते है। वे व्रत और सयम स्वीकार नहीं करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ[२४]।

भगवान् जभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहाँ इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे[२५]।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पाण्डित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण में आये।

उन्हे कई जीव के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ प्रश्न को स्वय सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर आत्मा भगवान् के चरणो मे झुक गई।

भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धा-पूर्वक भगवान् के शिष्य बने। भगवान् ने उन्हे छह जीव-निकाय, पांच महाव्रत और पच्चीस भावनाओ का उपदेश दिया[२६]।

इन्द्रभूति गौतम गोत्री थे। जैन-साहित्य मे इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके सम्वाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते है। वे भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें श्रद्धा का सम्बल तर्क का बल दोनो दिए। जिज्ञासा की जागृति के लिए भगवान् ने कहा—"जो सशय को जानता है, वह ससार को जानता है, जो सशय को नही जानता, वह ससार को नही जानता[२७]।"

इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हे जब-जब सशय हुआ, कुतूहल हुआ, श्रद्धा हुई वे झट भगवान् के पास पहुँचे और उनका समाधान लिया[२८]।

तर्क के साथ श्रद्धा को संतुलित करते हुए भगवान् ने कहा—गौतम ! कई व्यक्ति प्रयाण की वेला मे श्रद्धाशील होते है और अन्त तक श्रद्धाशील ही बने रहते है।

कई प्रयाण की वेला मे श्रद्धाशील होते है किन्तु पीछे अश्रद्धाशील बन जाते है।

कई प्रयाण की बेला में सन्देहशील होते है किन्तु पीछे श्रद्धाशील बन जाते है।

जिसकी श्रद्धा असम्यक् होती है, उसमे अच्छे या बुरे सभी तत्त्व असम्यक् परिणत होते है।

जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उसमें सम्यक् या असम्यक् सभी तत्त्व सम्यक् परिणत होते है[२९]। इसलिए गौतम ! तू श्रद्धाशील बन। जो श्रद्धाशील है, वही मेधावी है।

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पण्डितो का क्रम बध गया। एक-एक कर वे सब आये और भगवान् के शिष्य बन गये। उन सब के एक-एक सन्देह था[३०]। भगवान् उनके प्रच्छन्न सन्देह को प्रकाश में लाते गए और वे उसका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन मे ही भगवान् की शिष्य सम्पदा समृद्ध हो गई।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यो को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियो ने प्रव्रज्या ली। साध्वी सघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौपा। आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ हुई।

स्त्रियो को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने मे हिचकते थे। आचार्य विनोबा भावे ने इस प्रसग का बड़े मार्मिक ढग से स्पर्श किया है—उनके शब्दो में—"महावीर के सम्प्रदाय में—स्त्री-पुरुषो का किसी प्रकार कोई भेद नही किया गया है। पुरुषो को जितने अधिकार दिए गए है, वे सब अधिकार बहनो को दिए गए थे। मैं इन मामूली अधिकारो की बात नही करता हूँ, जो इन दिनो चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती

है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता भी महसूस नही हुई होगी। परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारो की बात कर रहा हूँ।

पुरुषो को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते है, उतने ही स्त्रियो को भी अधिकार हो सकते हे। इन आध्यात्मिक अधिकारो मे महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नही रखी, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके शिष्यो मे जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थी। वह प्रथा आज तक जैन धर्म मे चली आई है। आज भी जैन सन्यासिनी होती हे। जैन धर्म मे यह नियम है कि सन्यासी अकेले नही घूम सकते हैं। दो से कम नही, ऐसा सन्यासी और सन्यासिनियो के लिए नियम है। तदनुसार दो-दो बहनें हिन्दुस्तान मे घूमती हुई देखते है। बिहार, मारवाड, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाड की तरफ इस तरह घूमती हुई देखने को मिलती है, यह एक बहुत बडी विशेषता माननी चाहिए।

महावीर के पीछे ४० ही साल के बाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होने स्त्रियो को सन्यास देना उचित नही माना। स्त्रियो को सन्यास देने मे धर्म-मर्यादा नही रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनन्द एक बहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उसे उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा कि "यह बहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् सन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।" तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी। और बोले कि—"हे आनन्द, तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम मैं कर रहा हूँ। लेकिन इससे अपने सम्प्रदाय के लिए एक बडा खतरा मैंने उठा लिया है।" ऐसा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वैसा परिणाम बाद मे आया भी। बौद्धो के इतिहास मे बुद्ध को जिस खतरे का अन्देशा था, वह पाया जाता है। यद्यपि बौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है। उसमे दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने के लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था वह महावीर को नही था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पड़ते हे। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महा-वीर की तरफ विशेष आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी बहुत है। सारी दुनिया

मे उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नही मानता हूँ। महापुरुषो की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती है, लेकिन कहना पड़ेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को व्यावहारिक भूमिका छू नही सकी। उन्होने स्त्री-पुरुषो मे तत्त्वतः भेद नही रखा। वे इतने दृढप्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन में उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी मे उनकी महावीरता है।

रामकृष्ण परमहंस के सम्प्रदाय में स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी, जो रामकृष्ण परमहस की पत्नी थी और नाममात्र की ही पत्नी थी। वैसे तो वह उनकी माता ही हो गई थी और सम्प्रदाय के सभी भाइयो के लिए वह मातृ-स्थान में ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नही दी गई।

महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नही हो सकती थी कि बहनो को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहस मठ मे स्त्रियो को दीक्षा दी जाय – ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुष का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग बात है लेकिन अब तक स्त्रियो को दीक्षा ही नही मिलती थी, वह अब मिल रही है। इस पर से अंदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने में कितना बड़ा पराक्रम किया[31]।

गृहस्थ उपासक और उपासिकाएँ, श्रावक और श्राविकाएँ कहलाए। आनन्द आदि १० प्रमुख श्रावक बने। ये बारह व्रती थे। इनकी जीवन-चर्या का वर्णन करने वाला एक अग (उपासक दशा) है। जयन्ती आदि श्राविकाएँ थी, जिनके प्रौढ़ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवती से मिलती है[32]। धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ चतुष्टय (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

श्रमण-संघ-व्यवस्था

भगवान् ने श्रमण-सघ की बहुत ही सुदृढ़ व्यवस्था की। अनुशासन की

दृष्टि से भगवान् का संघ सर्वोपरि था। पाँच महाव्रत और व्रत—ये मूल गुण थे। इनके अतिरिक्त उत्तर गुणो की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-संघ को ११ या ९ भागो मे विभक्त किया[33]। पहले सात गणधर सात गणो के और आठवें, नवें, दशवें, तथा ग्यारहवें क्रमश आठवें और नवें गण के प्रमुख थे।

गणो की सारणा-वारणा और शिक्षा दीक्षा के लिए पद निश्चित किए' (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) प्रवर्त्तक (५) गणी (६) गणधर (७) गणावच्छेदक।

सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि सचालन का कार्य आचार्य के जिम्मे था।

सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना उपाध्याय के जिम्मे था।

श्रमणो को सयम मे स्थिर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणो को पुनः स्थिर करना, उनकी कठिनाइयो का निवारण करना स्थविर के जिम्मे था।

आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियो तथा सेवा–कार्य मे श्रमणो को नियुक्त करना प्रवर्त्तक का कार्य था।

श्रमणो के छोटे-छोटे समूहो का नेतृत्व करना गणी का कार्य था।

श्रमणो की दिनचर्या का ध्यान रखना—गणधर का कार्य था।

धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार व उपकरणो की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओ के साथ सघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिन्ता करना गणावच्छेदक का कार्य था[34]। इनकी योग्यता के लिए विशेष मानदण्ड स्थिर किए। इनका निर्वाचन नही होता था। ये आचार्य द्वारा नियुक्त किए जाते थे। किन्तु स्थविरो की सहमति होती थी[35]।

निर्वाण

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने। साढे बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया। तीस वर्ष तक धर्मोपदेश किया। भगवान् ने काशी, कोशल, पचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जांगल, बाह्लीक, गांधार, सिंधु सौवीर आदि देशो मे विहार किया।

भगवान् के चौदह हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ बनी। नन्दी के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे [३६]। इससे जान पडता है, सर्व साधुओ की सख्या और अधिक हो। १ लाख ५९ हजार श्रावक[३७] और ३ लाख १८ हजार श्राविकाएं थी [३८]। यह व्रती श्रावक श्राविकाओ की सख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालो की सख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उपदेश का समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। उनका क्रान्ति-स्वर समाज के जागरण का निमित्त बना। उसका विवरण इसी खण्ड के अन्तिम अध्याय मे मिल सकेगा। वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) पावापुर मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ।

उत्तरवर्ती संघ-परम्परा

भगवान् के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी—ये दो आचार्य केवली हुए। प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र—ये छह आचार्य 'श्रुत-केवली' हुए [३९]।

(१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कन्दिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मगु (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त (१०) आर्य-वज्र—ये दस पूर्वधर हुए।

तीन प्रधान परम्पराएँ :—

(१) गणधर-वश

(२) वाचक-वंश—विद्याधर-वश

(३) युग-प्रधान

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनो होते थे। वे गण की सार-सम्हाल और गण की शैक्षणिक व्यवस्था—इन दोनो के उत्तरदायित्वो को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के बाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यो की परम्परा (गणधरवश) अपने २ गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती है। वाचनाचार्यो और युग-प्रधानो की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नही है। जिस किसी भी गण या शाखा में

एक के बाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य व युग-प्रधान आचार्य हुए है, उनका क्रम जोडा गया है ।

आचार्य सुहस्ती के बाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनो हुए है । जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग मे सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हे युग-प्रधान माना गया । वे गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनो मे से हुए है ।

हिमवंत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वश या विद्याधर-वश की परम्परा इस प्रकार है[४०] ।

(१) आचार्य सुहस्ती
(२) आर्य बहुल और बलिसह
(३) आचार्य (उमा) स्वाति
(४) आचार्य श्यामाचार्य
(५) आचार्य सांडिल्य या स्कन्दिल (वि० स० ३७६ से ४१४ तक युग-प्रधान)
(६) आचार्य समुद्र
(७) आचार्य मगुसूरि
(८) आचार्य नन्दिलसूरि
(९) आचार्य नागहस्तीसूरि
(१०) आचार्य रेवतिमित्र
(११) आचार्य सिंहसूरि
(१२) आचार्य स्कन्दिल (वि० स० ८२६ वाचनाचार्य)
(१३) आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
(१४) आचार्य नागार्जुनसूरि
(१५) आचार्य भूतदिन्न
(१६) आचार्य लोहित्यसूरि
(१७) आचार्य दुष्यगणी (नन्दी सूत्र मे इतने ही नाम है)
(१८) आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
(१९) आचार्य कालिकाचार्य (चतुर्थ)
(२०) आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव और विचार-श्रेणी के अनुसार 'युग-प्रधान पट्टावली' और समय :—

(१) आचार्यों के नाम	समय (वीर निर्वाण से)
१—गणधर सुधर्मा स्वामी	१ से २०
६—आचार्य जम्बू स्वामी	२० से ६४
३—आचार्य प्रभव स्वामी	६४ से ७५
४—आचार्य शय्यभवसूरि	७५ से ९८
५—आचार्य यशोभद्रसूरि	९८ से १४८
६—आचार्य संभूतिविजय	१४८ से १५६
७—आचार्य भद्रबाहु स्वामी	१५६ से १७०
८—आचार्य स्थूलभद्र	१७० से २१५
९—आचार्य महागिरि	२१५ से २४५
१०—आचार्य सुहस्तिसूरि	२४५ से २९१
११—आचार्य गुणसुन्दरसूरि	२९१ से ३३५
१२—आचार्य श्यामाचार्य	३३५ से ३७६
१३—आचार्य स्कन्दिल	३७६ से ४१४
१४—आचार्य रेवतिमित्र	४१४ से ४५०
१५—आचार्य धर्मसूरि	४५० से ४९५
१६—आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३
१७—आचार्य श्री गुप्तसूरि	५३३ से ५४८
१८—आचार्य वज्रस्वामी	५४८ से ५८४
१९—आचार्य आर्यरक्षित	५८४ से ५९७
२०—आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र	५९७ से ६१७
२१—आचार्य वज्रसेन सूरि	६१७ से ६२०
२२—आचार्य नागहस्ती	६२० से ६८९
२३—आचार्य रेवतिमित्र	६८९ से ७४८
२४—आचार्य सिंहसूरि	७४८ से ८२६
२५—आचार्य नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४

२६—आचार्य भूतदिन्न सूरि ९०४ से ९८३
२७—आचार्य कालिक सूरि (चतुर्थ) ९८३ से ९९४
२८—आचार्य सत्यमित्र ९९४ से १०००
२९—आचार्य हारिल्ल १००० से १०५५
३०—आचार्य जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण १०५५ से १११५
३१—आचार्य (उमा) स्वाति सूरि १११५ से ११९०
३२—आचार्य पुष्यमित्र ११९० से १२५०
३३—आचार्य सभूति १२५० से १३००
३४—आचार्य माठर सभूति १३०० से १३६०
३५—आचार्य धर्म-ऋषि १३६० से १४००
३६—आचार्य ज्येष्ठांगगणी १४०० से १४७१
३७—आचार्य फल्गुमित्र १४७१ से १५२०
३८—आचार्य धर्मघोष १५२० से १५९८

(२) वालभी-युगप्रधान-पट्टावली

१—आर्य सुधर्मा स्वामी २० वर्ष
२—आचार्य जम्बू स्वामी ४४ वर्ष
३—आचार्य प्रभव स्वामी ११ वर्ष
४—आचार्य शय्यंभव २३ वर्ष
५—आचार्य यशोभद्र ५० वर्ष
६—आचार्य सम्भूतिविजय ८ वर्ष
७—आचार्य भद्रबाहु १४ वर्ष
८—आचार्य स्थूलभद्र ४६ वर्ष
९—आचार्य महागिरि ३० वर्ष
१०—आचार्य सुहस्ती ४५ वर्ष
११—आचार्य गुणसुन्दर ४४ वर्ष
१२—आचार्य कालकाचार्य ४१ वर्ष
१३—आचार्य स्कन्दिलाचार्य ३८ वर्ष
१४—आचार्य रेवतिमित्र ३६ वर्ष

१५—आचार्य मंगु	२० वर्ष
१६—आचार्य धर्म	२४ वर्ष
१७—आचार्य भद्रगुप्त	४१ वर्ष
१८—आचार्य आर्यवज्र	३६ वर्ष
१९—आचार्य रक्षित	१३ वर्ष
२०—आचार्य पुष्यमित्र	२० वर्ष
२१—आचार्य वज्रसेन	३ वर्ष
२२—आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३—आचार्य रेवतिमित्र	५९ वर्ष
२४—आचार्य सिंहसूरि	७८ वर्ष
२५—आचार्य नागार्जुन	७८ वर्ष
२६—आचार्य भूतदिन्न	७९ वर्ष
२७—आचार्य कालकाचार्य	११ वर्ष
	कुल ९८१ वर्ष

(३) माथुरी-युगप्रधान-पट्टावली

१—आर्य सुधर्मा स्वामी
२—आचार्य जम्बू स्वामी
३—आचार्य प्रभव स्वामी
४—आचार्य शय्यंभव
५—आचार्य यशोभद्र
६—आचार्य सम्भूत विजय
७—आचार्य भद्रबाहु
८—आचार्य स्थूलभद्र
९—आचार्य महागिरि
१०—आचार्य सुहस्ती
११—आचार्य बलिसह
१२—आचार्य स्वाति
१३—आचार्य श्यामाचार्य
१४—आचार्य सांडिल्य
१५—आचार्य समुद्र
१६—आचार्य मंगु
१७—आचार्य आर्यधर्म
१८—आचार्य भद्रगुप्त
१९—आचार्य वज्र
२०—आचार्य रक्षित
२१—आचार्य आनन्दिल
२२—आचार्य नागहस्ती
२३—आचार्य रेवतिमित्र
२४—आचार्य ब्रह्म-दीपक सिंह
२५—आचार्य स्कन्दिलाचार्य
२६—आचार्य हिमवत

२७—आचार्य नागार्जुन
२८—आचार्य गोविन्द
२९—आचार्य भूतदिन्न
३०—आचार्य लौहित्य
३१—आचार्य दूष्यगणि
३२—आचार्य देवर्द्धिगणि

सम्प्रदाय भेद

(निह्नव विवरण)

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। विचार व्यक्ति-व्यक्ति की ही उपज होता है, किन्तु सघ मे रूढ होने के बाद सघीय कहलाता है।

तीर्थंकर वाणी जैन-सघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए उसमे तर्क की कर्कशता नही है। वह तर्क से बाधित भी नही है। वह सूत्र-रूप है। उसकी व्याख्या मे तर्क का लचीलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नही थे। उन्होने सूत्र के आशय को परम्परा से समझा। कही समझ मे नही आया, हृदयगम नही हुआ तो अपनी युक्ति और जोड़ दी। लम्बे समय मे अनेक सम्प्रदाय बन गए। श्वेताम्बर और दिगम्बर जैसे शासन भेद हुए। भगवान् महावीर के समय मे कुछ श्रमण वस्त्र पहनते, भी कुछ नही पहनते। भगवान् स्वय वस्त्र नही पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती ही नही या वस्त्र नही पहनने से ही मुक्ति होती है, ये दोनो बाते गौण है—मुख्य बात है---राग द्वेप से मुक्ति। जैन परम्परा का भेद मूल तत्त्वो की अपेक्षा ऊपरी बातो या गौण प्रश्नो पर अधिक टिका हुआ है।

गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा अलग हो गया, इसलिए उसे निह्नव नही माना गया। थोडे से मत-भेद को लेकर जो जैन शासन से अलग हुए, उन्हें निह्नव माना गया[४१]।

बहुरतवाद

(१) जमाली पहला निह्नव था। वह क्षत्रिय-पुत्र और भगवान् महावीर का दामाद था। माँ-बाप के अगाध प्यार और अतुल ऐश्वर्य को ठुकरा वह निर्ग्रन्थ बना। भगवान् महावीर ने स्वय उसे प्रव्रजित किया। पॉच सौ व्यक्ति उसके साथ थे। मुनि जमाली अब आगे बढने लगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे अपने-आप को लगा दिया। सामायिक आदि ग्यारह अग

पढे। विचित्र तप-कर्म — उपवास, बेला, तेला यावत् अर्द्ध मास और मास की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विहार करने लगा।

एक दिन की बात है, ज्ञानी और तपस्वी जमाली भगवान् महावीर के पास आया। वन्दना की, नमस्कार किया और बोला—भगवन्! मैं आपकी अभ्यनुज्ञा पा कर पाँच सौ निर्ग्रन्थो के साथ जनपद विहार करना चाहता हूँ। भगवान् ने जमाली की बात सुनली। उसे आदर नही दिया। मौन रहे। जमाली ने दुबारा और तिबारा अपनी इच्छा को दोहराया। भगवान् पहले की भाँति मौन रहें। जमाली उठा। भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। बहुशाला नामक चैत्य से निकला। अपने साथी पाँच सौ निर्ग्रन्थो को ले भगवान से अलग विहार करने लगा।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे जमाली ठहरा हुआ था। सयम और तप की साधना चल रही थी। निर्ग्रन्थ-शासन की कठोरचर्या और वैराग्यवृद्धि के कारण वह अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार लेता। उससे जमाली का शरीर रोगातक से घिरा गया। उज्ज्वल— विपुल वेदना होने लगी। कर्कश—कटु दु.ख उदय मे आया। पित्तज्वर से शरीर जलने लगा। घोरतम वेदना से पीड़ित जमाली ने अपने साधुओ से कहा—देवानुप्रिय! बिछौना करो। साधुओ ने विनयावनत हो उसे स्वीकार किया। बिछौना करने लगे। वेदना का वेग बढ रहा था। एक-एक पल भारी हो रहा था। जमाली ने अधीर स्वर से पूछा—मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो? श्रमणो ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय! आपका बिछौना किया नही, किया जा रहा है। दूसरी बार फिर पूछा—देवानुप्रिय! बिछौना किया या कर रहे हो? श्रमण निर्ग्रन्थ होले—देवानुप्रिय! आपका बिछौना किया नही, किया जा रहा है। इस उत्तर ने वेदना से अधीर बने जमाली को चौका दिया। शारीरिक वेदना की टक्कर से सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। विचारो ने मोड़ लिया। जमाली सोचने लगा—भगवान् चलमान को चलित, उदीर्यमाण को उदरित यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते है, वह मिथ्या है। यह सामने दिख रहा है। मेरा बिछौना बिछाया जा रहा है, किन्तु बिछा नही है। इसलिए क्रियमाण अकृत, सस्तीर्यमाण असंस्तृत है—

किया जा रहा है किन्तु किया नही गया है, बिछाया जा रहा है किन्तु बिछा नही है—का सिद्धान्त सही है। इसके विपरीत भगवान् का क्रियमाण कृत और संस्तीर्यमाण सस्तृत—करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया, वह बिछा लिया गया—यह सिद्धान्त गलत है। चलमान को चलित, यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण मानना मिथ्या है। चलमान को अचलित यावत् निर्जीर्यमाण को अनिर्जीर्ण मानना सही है। बहुरतवाद-कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है। इस सैद्धान्तिक उथल-पुथल ने जमाली की शरीर वेदना को निर्वीर्य बना दिया। उसने अपने साधुओ को बुलाया और अपना सारा मानसिक आन्दोलन कह सुनाया। श्रमणो ने आश्चर्य के साथ सुना। जमाली भगवान् के सिद्धान्त को मिथ्या और अपने परिस्थिति-जन्य अपरिपक्व विचार को सत्य बता रहा है। माथे-माथे का विचार अलग-अलग होता है। कुछेक श्रमको को जमाली का विचार रुचा, मन को भाया, उस पर श्रद्धा जमी। वे जमाली की शरण मे रहे। कुछ एक जिन्हे जमाली का विचार नही जचा, उस पर श्रद्धा या प्रतीति नही हुई, वे भगवान् की शरण मे चले गए। थोड़ा समय बीता। जमाली स्वस्थ हुआ। श्रावस्ती से चला। एक गांव से दूसरे गांव विहार करने लगा। भगवान् उन दिनो चम्पा के पूर्णभद्र-चैत्य मे विराज रहे थे। जमाली वहाँ आया। भगवान् के पास बैठकर बोला—देवानुप्रिय! आपके बहुत सारे शिष्य असर्वज्ञ-दशा में गुरुकुल से अलग होते है (छदमस्थापक्रमण करते है)। वैसे मैं नही हुआ हूँ। मैं सर्वज्ञ (अर्हत्, जिन, केवली) होकर आप से अलग हुआ हूँ। जमाली की यह बात सुनकर भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम स्वामी बोले—जमाली! सर्वज्ञ का ज्ञान-दर्शन शैल-स्तम्भ और स्तूप से रुद्ध नही होता। जमाली! यदि तुम सर्वज्ञ होकर भगवान् से अलग हुए हो तो लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शाश्वत है या अशाश्वत? इन दो प्रश्नो का उत्तर दो। गौतम के प्रश्न सुन वह शकित हो गया। उनका यथार्थ उत्तर नही दे सका। मौन हो गया। भगवान् बोले—"जमाली! मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य भी मेरी भांति प्रश्नो का उत्तर देने में समर्थ है। किन्तु तुम्हारी भांति अपने आपको सर्वज्ञ कहने मे समर्थ नही है।

जमाली ! यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। लोक कभी नहीं था, नही है, नही होगा—ऐसा नही है। किन्तु यह था, है और रहेगा। इसलिए यह शाश्वत है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी होती है। उत्सर्पिणी के बाद फिर अवसर्पिणी—इस काल-चक्र की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। इसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनो है। त्रैकालिक सत्ता की दृष्टि से वह शाश्वत है। वह कभी नैरयिक बन जाता है, कभी तिर्यञ्च, कभी मनुष्य और कभी देव। इस रूपान्तर की दृष्टि से वह अशाश्वत है।" जमाली ने भगवान् की बातें सुनी पर वे अच्छी नही लगी। उन पर श्रद्धा नही हुई। वह उठा, भगवान् से अलग चला गया। मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा—झूठी बातें कहने लगा। मिथ्या-अभिनिवेश (एकान्त आग्रह) से वह आग्रही बन गया। दूसरो को भी आग्रही बनाने का जी भर जाल रचा। बहुतो को झगडाखोर बनाया। इस प्रकार की चर्चा चलती रही। लम्बे समय तक श्रमण वेश मे साधना की। अन्त काल में एक पक्ष की सलेखना की। तीस दिन का अनसन किया। किन्तु मिथ्या-प्ररूपणा या झूठे आग्रह की आलोचना नही की, प्रायश्चित्त नही किया। इसलिए आयु पूरा होने पर वह लान्तककल्प (छठे देव लोक) के नीचे किल्विषिक (निम्न श्रेणी का) देव बना।

गौतम ने जाना—जमाली मर गया है। वे उठे। भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर बोले—भगवान् ! आपका अन्तेवासी कुशिष्य जमाली मर कर कहाँ गया है ? कहाँ उत्पन्न हुआ है ? भगवान् बोले—गौतम ! वह किल्विषिक देव बना है।

गौतम—भगवान् ! किन कर्मो के कारण किल्विषिक देव-योनि मिलती है ?

भगवान्—गौतम ! जो व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और सघ के प्रत्यनीक (विद्वेषी) होते है, आचार्य और उपाध्याय का अपयश बखानते है, अवर्ण बोलते है और अकीर्ति गाते है, मिथ्या प्रचार करते है, एकान्त आग्रही होते है, लोगो में पांडित्य के मिथ्याभिमान का भाव भरते हैं, वे साधुपन की विराधना कर किल्विपिक देव बनते है।

गौतम—भगवान् ! जमाली अणगार अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-

सूखा आहार करता था। वह अरस-जीवी यावत् तुच्छ-जीवी था। उपशान्त-जीवी, प्रशान्त-जीवी और विविक्त-जीवी था।)

भगवान्—हाँ गौतम ! वह ऐसा था।

गौतम— तो फिर भगवन् ! वह किल्विषिक देव क्यों बना ?

भगवान्—गौतम ! जमाली अणगार आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक था। उनका अयश बखानता, अवर्ण बोलता और अकीर्ति गाता था। एकान्त-आग्रह का प्रचार करता और लोगों को मिथ्याभिमानी बनाता था। इसलिए वह साधुपन का आराधक नहीं बना। जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी उसने मिथ्या स्थान का आलोचन और प्रायश्चित नहीं किया। यही हेतु है गौतम ! वह तपस्वी और वैरागी होते हुए भी किल्विषिक देव बना। सलेखना और अनशन भी उसे आराधक नहीं बना सके।

गौतम—भगवान् ! जमाली देवलोक से लौट कर कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गौतम ! जमाली देव, अनेक बार तिर्यंच, मनुष्य और देव-गति में जन्म लेगा। ससार-भ्रमण करेगा। दीर्घकाल के बाद साधुपन ले, कर्म खपा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

जीव प्रादेशिकवाद

(२) दूसरे निह्नव का नाम तिष्यगुप्त है। इनके आचार्य वस्तु चतुर्दशपूर्वी थे। वे तिष्यगुप्त को आत्म-प्रवाद-पूर्व पढा रहे थे। उसमें भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद आया। गौतम ने पूछा—भगवान् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं।

गौतम—भगवान् ! क्या दो, तीन यावत् सख्यात प्रदेश से कम जीव के प्रदेशों को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं। असख्यात प्रदेशमय चैतन्य पदार्थ को ही जीव कहा जा सकता है।

यह सुन तिष्यगुप्त ने कहा—अन्तिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं है। इसलिए अन्तिम प्रदेश ही जीव है। गुरु के समझाने पर भी अपना आग्रह नहीं छोडा। तब उन्हें सघ से पृथक् कर दिया। ये जीव-प्रदेश सम्बन्धी आग्रह के कारण जीव-प्रादेशिक कहलाए।

अव्यक्तवाद

(३) श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ़ चैत्य मे आचार्य आषाढ विहार कर रहे थे। उनके शिष्यो मे योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। आचार्य का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उनने सोचा—शिष्यो का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। फिर अपने शरीर मे प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी कोई जानकारी नही थी। योग-साधना का क्रम पूरा हुआ। आचार्य देव रूप मे प्रगट हो बोले—श्रमणो ! मैंने असंयत होते हुए भी संयतात्माओ से वन्दना कराई, इसलिए मुझे क्षमा करना। सारी घटना सुना देव अपने स्थान पर चले गए। श्रमणो को सन्देह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव ? निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। यह अव्यक्त मत कहलाया। आषाढ़ के कारण यह विचार चला। इसलिए इसके आचार्य आषाढ है—ऐसा कुछ आचार्य कहते है, पर वास्तव में उसके प्रवर्त्तक आषाढ के शिष्य ही होने चाहिए।

सामुच्छेदिकवाद

(४) अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ रहे थे। पहले समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे—यह पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था।

उनने एकान्त-समुच्छेद का आग्रह किया ! वे संघ से पृथक् कर दिये गए। उनका मत "सामुच्छेदिवाद" कहलाया।

द्वैक्रियवाद

(५) गग मुनि आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। वे शरद् ऋतु मे अपने आचार्य को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नदी थी। उसे पार करते समय सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था। मुनि ने सोचा—आगम में कहा है—एक समय मे दो क्रियाओ की अनुभूति नही होती। किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति हो रही है। गुरु के पास पहुँचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा—वास्तव मे एक समय में एक ही क्रिया की अनुभूति होती है। मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है,

इसलिए हमे उसकी पृथकता का पता नही चलता। गुरु की बात उन्हे नही जची। वे सघ से अलग होकर "द्वैक्रियवाद" का प्रचार करने लगे।

त्रैराशिकवाद

(६) छठे निह्नव रोहगुप्त (षडुलूक) हुए। वे अन्तरंजिका के भूतगृह-चैत्य मे ठहरे हुए अपने आचार्य श्री गुप्त को वन्दना करने जा रहे थे। वहाँ पोट्टशाल परिव्राजक अपनी विद्याओ के प्रदर्शन से लोगो को अचम्भे में डाल रहा था और दूसरे सभी धार्मिको को वाद के लिए चुनौती दे रहा था। आचार्य ने रोहगुप्त को उसकी चुनौती स्वीकार करने का आदेश दिया और मयूरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही आदि अनेक विद्याए भी सिखाई।

रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया। राज-सभा मे चर्चा का प्रारम्भ हुआ।

पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियो की स्थापना की। रोहगुप्त ने जीव, अजीव और निर्जीव—इन तीन राशियो की स्थापना कर उसे पराजित कर दिया।

पोट्टशाल की वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याए भी विफल करदी। उसे पराजित कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आये, सारा घटनाचक्र निवेदित किया। गुरु ने कहा—राशि दो हैं। तूने तीन राशि की स्थापना की, यह अच्छा नहीं किया। वापस सभा मे जा, इसका प्रतिवाद कर। आग्रहवश गुरु की बात स्वीकार नही सके। गुरु उन्हे 'कुत्रिकापण' मे ले गये। वहाँ जीव मांगा, वह मिल गया, अजीव मांगा, वह भी मिल गया, तीसरी राशि नही मिली। गुरु राज-सभा में गए और रोहगुप्त के पराजय की घोषणा की। इस पर भी उनका आग्रह कम नही हुआ। इसलिए उन्हे सघ से अलग कर दिया गया।

अबद्धिकवाद

(७) सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल थे। आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्बलिका पुष्यमित्र हुए। एक दिन वे विन्ध्य नामक मुनि को कर्म-प्रवाद का बन्धाधिकार पढा रहे थे। उसमे कर्म के दो रूपो का वर्णन आया। कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भाँति आत्मा के साथ चिपक जाता है—एक रूप हो जाता है।

और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भाँति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है—अलग हो जाता है।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वे आचार्य से कहने लगे—आत्मा और कर्म यदि एक रूप हो जाए तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते। इसलिए यह मानना ही सगत है कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते है, उससे एकीभूत नही होते। वास्तव में वन्ध होता ही नही। आचार्य ने दोनो दशाओ का मर्म वताया पर उनने अपना आग्रह नही छोड़ा। आखिर उन्हें सघ से पृथक् कर दिया।

जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल के सिवाय शेप निह्नव आ प्रायश्चित्त ले फिर से जैन-परम्परा में सम्मिलित हो गए। जो सम्मिलित नही हुए उनकी भी अव कोई परम्परा प्रचलित नही है।

यंत्र देखिए :—

आचार्य	मत-स्थापन	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
जमाली	वहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिक-वाद	ऋषभपुर (राजगृह)	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
आपाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष पश्चात्
अश्वमित्र	सामुच्छेदिक-वाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
गग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्
रोहगुप्त (पडुलूक)	त्रैराशिकवाद	अन्तरजिका	निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्
गोष्ठामाहिल	अवद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात्

स्थानांग में सात निह्नवों का ही उल्लेख है। जिनभद्र गणी आठवें निह्नव वोटिक का उल्लेख और करते है, जो वस्त्र त्याग कर सघ से पृथक् हुए थे[४०]।

श्वेताम्बर-दिगम्बर

दिगम्बर- सम्प्रदाय की स्थापना कब हुई ? यह अब भी अनुसन्धान सापेक्ष है। परम्परा से इसकी स्थापना विक्रम की सातवी शताब्दी मे मानी जाती है। श्वेताम्बर नाम कब पडा—यह भी अन्वेषण का विषय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सापेक्ष शब्द है। इनमे से एक का नाम-करण होने के बाद ही दूसरे के नाम-करण की आवश्यकता हुई है।

भगवान् महावीर के सघ मे सचेल और अचेल दोनो प्रकार के श्रमणो का समवाय था। आचारांग १।८ मे सचेल और अचेल दोनो प्रकार के श्रमणो के मोह-विजय का वर्णन है।

सचेल मुनि के लिये वस्त्रैपणा का वर्णन आचारांग २।५ मे है। अचेल मुनि का वर्णन आचारांग १।६ मे है। उत्तराध्ययन २।१३ मे अचेल और सचेल दोनो अवस्थाओ का उल्लेख है। आगम-काल मे अचेल मुनि जिनकल्पित[४३] और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे[४४]।

भगवान् महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप मे चला। उनके पश्चात् आचार्य परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर पट्टावली के अनुसार जम्बू के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत विजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनो परम्पराएँ आचार्यों का भेद स्वीकार करती है और भद्रबाहु के समय फिर दोनो एक बन जाती है। इस भेद और अभेद से सैद्धान्तिक मतभेद का निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। उस समय सघ एक था, फिर गण और शाखाएँ अनेक थी। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभव स्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अकुर फूटने लगे हो, ऐसा प्रतीत होता है।

शय्यम्भव ने दशवै० में—'वस्त्र रखना परिग्रह नही है'—इस पर जो बल दिया है और ज्ञातपुत्र महावीर ने सयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को परिग्रह नही कहा है—इस वाक्य द्वारा भगवान् के अभिमत को साक्ष्य किया

है[४५]। उससे आन्तरिक मत-भेद की सूचना मिलती है। कुछ शताब्दियों के पश्चात् शय्यम्भव का 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' वाक्य परिग्रह की परिभाषा बन गया। उमास्वाति का 'मूर्च्छा-परिग्रह-सूत्र' इसी का उपजीवी है[४६]।

जम्बू स्वामी के पश्चात् 'दस वस्तुओं' का लोप माना गया है। उनमे एक जिनकल्पिक अवस्था भी है[४७]। यह भी परम्परा-भेद की पुष्टि करता है। भद्रबाहु के समय (वी० नि० १६० के लगभग) पाटलिपुत्र मे जो वाचना हुई, उन दोनो परम्पराओ का मत-भेद तीव्र हो गया। इससे पूर्व श्रुत विषयक एकता थी। किन्तु लम्बे दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अगो का सकलन किया गया। वह सब को पूर्ण मान्य नही हुआ। दोनो का मत-भेद स्पष्ट हो गया। माथुरी वाचना में श्रुत का जो रूप स्थिर हुआ, उसका अचेलत्व-समर्थको ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इस प्रकार आचार और श्रुत विषयक मत-भेद तीव्र-होते-होते वीर-निर्वाण की सातवी शताब्दी मे एक मूल दो भागो में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर-शाखा निकली, यह भी नही कहा जा सकता और दिगम्बर से श्वेताम्बर शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नही कहा जा सकता। एक दूसरा सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताता है। पर सच तो यह है कि साधना की दो शाखाएं, समन्वय और सहिष्णुता के विराट् प्रकाण्ड का आश्रय लिए हुए थी, वे उसका निर्वाह नहीं कर सकी, काल-परिपाक से पृथक हो गई। अथवा यो कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजो ने समन्वय के महातरु को अकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागो में विभक्त हो गया। किंवदन्ती के अनुसार वीर निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते है और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

सचेलत्व और अचेलत्व का आग्रह और समन्वय दृष्टि

जब तक जैन-शासन पर प्रभावशाली व्यक्तित्व का अनुशासन रहा, तब तक सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद उग्र नही बना। कुन्द-कुन्द (जिसका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी है) के समय यह विवाद तीव्र हो उठा था[४८]।

बीच-बीच मे इसके समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे है। यापनीय सघ (जिसकी स्थापना वी० नि० की सातवी शताब्दी के लगभग हुई) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ का समन्वित रूप था। इस संघ के मुनि अचेलत्व आदि की दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा का अनुसरण करते थे और मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर थे। वे स्त्री-मुक्ति को मानते थे और श्वेताम्बर-सम्मत आगम-साहित्य का अध्ययन करते थे।

समन्वय की दृष्टि और भी समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है। कहा गया है :—

कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन, कोई एक और कोई अचेल रहता है। वे परस्पर एक दूसरे की अवज्ञा न करें। क्योकि यह सब जिनाज्ञा-सम्मत है। यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति और धृति के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होता है। इसलिए सचेल मुनि अचेल मुनियो की अवज्ञा न करें और अचेल मुनि सचेल मुनियों को अपने से हीन न मानें। जो मुनि महाव्रत-धर्म का पालन करते है और उद्यत-विहारी है, वे सब जिनाज्ञा में है[४०]।

चैत्यवास और संविग्न

स्थानांग सूत्र मे भगवान् महावीर के नौ गणो का उल्लेख मिलता है[५०]। इनके नाम क्रमश इस प्रकार है :—

१—गोदास-गण	२—उत्तर-वलिस्सइ-गण	३—उद्देह-गण
४—चारण-गण	५—उडुपाटित-गण	६—वेशपाटिक-गण
७—कामर्द्धि-गण	८—मानव-गण	९—कोटिक-गण

गोदास भद्रबाहु स्वामी के प्रथम शिष्य थे। उनके नाम से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उत्तर वलिस्सइ आर्य महागिरि के शिष्य थे। दूसरे गण का प्रवर्तन इनके द्वारा हुआ।

आर्य सुहस्ती के शिष्य स्थविर रोहण से उद्देह-गण, स्थविर श्री गुप्त से चारण-गण, भद्रयश से उडुपाटित-गण, स्थविर कामर्द्धि से वेशपाटिक-गण और उसका अन्तर कुल कामर्द्धिगण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण और स्थविर सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से कोटिक गण प्रवर्तित हुए[५१]।

आर्य सुहस्ती के समय शिथिलाचार की एक स्फुट रेखा निर्मित हुई थी।

वे स्वयं सम्राट् सम्प्रति के आचार्य बन कुछ सुविधा के उपभोक्ता बने थे। पर आर्य महागिरि के सकेत से शीघ्र ही सम्हल गए थे। माना जाता है कि उनके सम्हल जाने पर भी एक शिथिल परम्परा चल पड़ी।

वी० नि० की नवी शताब्दी (८५०) में चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोड़ कर मदिरो के परिपार्श्व में रहने लगे। वी० नि० की दशवी शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नही बढा। देवर्द्धिगणी के दिवंगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। विद्या-बल और राज्य-बल दोनो के द्वारा उन्होंने उग्र-विहारी श्रमणो पर पर्याप्त प्रहार किया। हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' मे इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

अभयदेव सूरि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन-शासन की वास्तविक परम्परा का लोप मानते है[५२]।

चैत्यवास से पूर्व गण, कुल और शाखाओ का प्राचुर्य होते हुए भी उनमें पारस्परिक विग्रह या अपने गण का अहकार नही था। वे प्राय अविरोधी थे। अनेक गण होना व्यवस्था-सम्मत था। गणो के नाम विभिन्न कारणो से परिवर्तित होते रहते थे। भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा के नाम से गण को सौधर्म गण कहा गया।

सामन्त भद्रसूरि ने वन-वास स्वीकार किया, इसलिए उसे वन-वासी गण कहा गया।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष सविग्न, विधि-मार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

स्थानक वासी

इन सम्प्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष मे हुआ। वि० की सोलहवी शताब्दी मे लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। इन्ही लोकाशाह के अनुयायियो में से स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह थोड़े ही समय में शक्तिशाली बन गया।

तेरापंथ

स्थानक वासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री रुघनाथजी के शिष्य 'संत भीखणजी'

(आचार्य भिक्षु) ने वि० सं० १८१७ मे तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। एक सूत्रता के लिए उन्होने अनेक मर्यादाओ का निर्माण किया। शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोडे ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वों को प्रकाश मे लाए। सामाजिक भूमिका मे उस समय वे कुछ अपूर्व से लगे। आध्यात्मिक-दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान है, कुछ तथ्य तो वर्तमान समाज के भी पथ-दर्शक बन गए हैं।

उन्होने कहा—

(१) धर्म को जाति, समाज और राज्यगत नीति से मुक्त रखा जाय।

(२) साधन-शुद्धि का उतना ही महत्त्व है, जितना कि साध्य का।

(३) हिंसक साधनो से अहिंसा का विकास नही किया जा सकता।

(४) हृदय-परिवर्तन हुए बिना किसी को अहिंसक नही बनाया जा सकता।

(५) आवश्यक हिंसा को अहिंसा नही मानना चाहिए।

(६) धर्म और अधर्म क्रिया-काल में ही होते है, उसके पहले-पीछे नही होते।

(७) बडो की सुरक्षा के लिए छोटे जीवो का वध करना अहिंसा नही है।

उन्होने दान और दया के धार्मिक विश्वासो की आलोचना की और उनकी ऐतिहासिक आध्यात्मिकता को अस्वीकार किया।

मिश्र-धर्म को अमान्य करते हुए उन्होने आगम की भाषा में कहा—

"संक्षेप मे क्रिया के दो स्थान है। १—धर्म, २—अधर्म[५३]। धर्म और अधर्म का मिश्र नही होता।"

गौतम स्वामी ने पूछा —"भगवन्! अन्य तीर्थिक ऐसा कहते है, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करते है—एक जीव एक समय मे दो क्रियाएँ करता है। वे दो क्रियाएँ है—सम्यक् और मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया भी करता है और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया भी करता है। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया करता है,

और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया करता है— इस प्रकार एक जीव एक समय मे दो क्रियाएँ करता है। यह कैसे है भगवन् ? ”

भगवान्—गौतम ! एक जीव एक समय मे दो क्रियाए करता है—यह जो कहा जाता है, वह सच नही है—मैं इस प्रकार कहता हूँ, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करता हूँ। एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता हे—सम्यक् या मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया नही करता और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया नही करता। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया नही करता और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया नहीं करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय मे एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या"[४] ।"

अन्य तीर्थिक लोग "एक साथ धर्म और अधर्म दोनो क्रियाएँ होती है'—ऐसा मानते थे। उनका भगवान् महावीर ने इस सूत्र मे प्रतिवाद किया और वताया—"सम्यक् और असम्यक्—शुभ अध्यवसाय वाली और अशुभ अध्यवसाय वाली—ये दोनो क्रियाए एक साथ नही हो सकती। आत्मा क्रिया करने मे सर्वात्मना प्रवृत्त होती हे। इसलिए क्रिया का अध्यवसाय एक साथ द्विरूप नही हो सकता। जिस समय निर्जरा होती है, उस समय आस्रव भी विद्यमान रहता हे। पुण्य वंध होता है, उस समय पाप भी बंधता है। किन्तु वे दोनो प्रवृत्तियां स्वतन्त्र हैं, इसलिए वह मिश्र नही कहलाता। जिससे कर्म लगता है, उसीसे कर्म नहीं टूटता तथा जिससे पुण्य का बंध होता है, उसीसे पाप का बंध नही होता। एक ही प्रवृत्ति से धर्म और अधर्म दोनो हो, पुण्य-पाप दोनो बंधे, उसका नाम मिश्र है। धर्म मिश्र नही होता।"

ये विचार आदि-काल में बहुत ही अपरिचित से लगे किन्तु अब इनकी गहराई से लोगो का निकट परिचय हुआ है।

तेरापथ के आठ आचार्य हो चुके है। वर्तमान नेता आचार्य श्री तुलसी है। अणुव्रत-आन्दोलन जो अहिंसा, मैत्री, धर्म-समन्वय और धर्म के सम्प्रदायातीत रूप का ज्वलत प्रतीक है, आचार्य श्री के विचार-मन्थन का नवनीत है।

आन्दोलन-प्रवर्तक के व्यक्तित्व पर जैन धर्म का समन्वयवाद और असाम्प्रदायिक धार्मिकता की अमिट छाप है।

तीन

जैन-साहित्य

परवर्ती-प्राकृत-साहित्य
संस्कृत-साहित्य
प्रादेशिक-साहित्य
गुजराती-साहित्य
राजस्थानी-साहित्य
हिन्दी-साहित्य

आगम

जैन-साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागो मे बटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् ने अपने आपको देखा (आत्म-साक्षात् किया) और समूचे लोक को देखा। भगवान् ने तीर्थ-चतुष्टय (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की। इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए। भगवान् ने सत् का निरूपण किया तथा बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बताया[1]।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरो ने उसे सूत्र-रूप में गूथा। आगम के दो विभाग हो गए। सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उसके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इस लिए उनका नाम गणिपिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक बारह भाग हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ द्वादशांगी। बारह अग ये है—(१) आचार (२) सूत्रकृत (३) स्थान (४) समवाय (५) भगवती (६) ज्ञातृ-धर्मकथा (७) उपासक दशा (८) अन्त कृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिक-दशा (१०) प्रश्न-व्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद। स्थविरो ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रो की सख्या हजारो तक पहुंच गई।

भगवान् के १४ हजार शिष्य प्रकरणकार (ग्रन्थकार) थे[2]। उस समय लिखने की परम्परा नही थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

आगमो का रचना-क्रम

दृष्टिवाद के पांच विभाग है: (१) परिकर्म (२) सूत्र (३) पूर्वानुयोग (४) पूर्वगत (५) चूलिका। चतुर्थ विभाग-पूर्वगत मे चौदह पूर्वो का समावेश होता है। इनका परिमाण बहुत ही विशाल है। ये श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषयो के अक्षय-कोष होते है। इनकी रचना के बारे मे दो विचार धाराएँ है—एक के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व से ज्ञानराशि का यह भाग चला आ रहा था।

इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे पूर्व कहा गया। दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशांगी के पूर्व ये चौदह शास्त्र रचे गए, इसलिए इन्हें पूर्व कहा गया[3]। पूर्वो में सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ नही सकते। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई[४]। आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते है। कुछ श्रमण चतुर्दश पूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अगो को पढते थे। चतुर्दश पूर्वी श्रमणो का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हे श्रुत-केवली कहा गया है।

नाम	विषय	पद-परिमाण
१—उत्पाद	द्रव्य और पर्यायो की उत्पत्ति	एक करोड
२—अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवो का परिमाण	छियानवे लाख
३—वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवो के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख
४—अस्तिनास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता-का निरूपण	साठ लाख
५—ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड
६—सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड़ छह
७—आत्म-प्रवाद	आत्मा और जीव का निरूपण	छब्बीस करोड
८—कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड़ अस्सी-लाख
९—प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निषेध	चौरासी लाख
१०—विद्यानुप्रवाद	सिद्धियों और उनके साधनो का निरूपण	एक करोड दस-लाख
११—अवन्ध्य (कल्याण)	शुभाशुभ फल की अवश्य-भाविता का निरूपण	छब्बीस करोड

१२—प्राणायुप्रवाद	इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण	एक करोड़ छप्पन लाख
१३—क्रियाविशाल	शुभाशुभ क्रियाओ का निरूपण	नौ करोड
१४—लोकविन्दुसार	लोक विन्दुसार लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढे वारह करोड़

उत्पाद पूर्व मे दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु है। अग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु और वारह चूलिकावस्तु है। वीर्यप्रवाद पूर्व में आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु है। अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु है। ज्ञान-प्रवाद पूर्व मे वारह वस्तु है। सत्य प्रवाद पूर्व मे दो वस्तु है। आत्म-प्रवाद पूर्व मे सोलह वस्तु है। कर्म-प्रवाद पूर्व मे तीस वस्तु है। प्रत्याख्यान पूर्व में बीस। विद्यानुप्रवाद पूर्व मे पन्द्रह। अवन्ध्य पूर्व मे वारह। प्राणायु पूर्व मे तेरह। क्रियाविशाल पूर्व मे तीन। लोक विन्दुसार पूर्व मे पच्चीस। चौथे से आगे के पूर्वो मे चूलिकावस्तु नही है[५]।

इनकी भाषा सस्कृत मानी जाती है। इनका विषय गहन और भाषा सहज सुवोध नही थी। इसलिए अल्पमति लोगो के लिए द्वादशांगी रची गई। कहा भी है :—

'वालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै, सिद्धांतः प्राकृते कृतः॥

आचारांग का स्थान पहला है। वह योजना की दृष्टि से है। रचना की दृष्टि से पूर्व का स्थान पहला है[६]।

आगमों की भाषा

जैन आगमो की भाषा अर्ध-मागधी है। आगम-साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी में उपदेश देते है[७]। इसे उस समय की दिव्य भाषा[८] और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा है[९]। यह प्राकृत का ही एक रूप है[१०]। यह मगध के एक भाग मे वोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है। इसमे मागधी और दूसरी भाषाओ—अठारह देशी भाषाओ के लक्षण मिश्रित है। इसलिए यह अर्ध-मागधी कहलाती है[११]। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे।

इसलिए जैन-साहित्य की प्राचीन प्राकृत में देश्य शब्दो की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दो का मिश्रण अर्ध-मागधी कहलाता है। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है, जो सम्भवत सब से अधिक प्राचीन है। इसे आर्य भी कहा जाता है[१२]। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्प कहा—उनका मूल आगम का ऋषि-भाषित शब्द है[१३]।

आगमों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य

केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यव-ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को आगम कहा जाता है। आगम मे प्रमुख स्थान द्वादशांगी या गणि-पिटक का है। वह स्वत प्रमाण है। शेष आगम परत. प्रमाण है—द्वादशांगी के अविरुद्ध है, वे प्रमाण है, शेप अप्रमाण।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त होता है। (१) अग-प्रविष्ट (२) अनग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो ने जो साहित्य रचा, वह अग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थविरो ने जो साहित्य रचा, वह अनग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अगों के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनग-प्रविष्ट है। गणधरो के प्रश्न पर भगवान् ने त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम-साहित्य रचा गया, वह अंग-प्रविष्ट और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरो ने जो रचा, वह अनग-प्रविष्ट है।

द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरो के समक्ष नियत होता है। अनग-प्रविष्ट नियत नही होता[१४]। अभी जो एकादश अग उपलब्ध है वे सुधर्मा गणधर की वाचना के है। इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते है।

अनंग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागो में बटता है। कुछेक आगम स्थविरो के द्वारा रचित है और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गए, वे निर्यूढ कहलाते है। दशवैकालिक, आचारांग का दूसरा श्रुत-स्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ आगम है।

दशवैकालिक का निर्यूहन अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए

आर्य शय्यम्भव ने किया[१५]। शेप आगमो के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु है[१६]। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य-रक्षित और नन्दी के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण माने जाते है।

भापा की दृष्टि से आगमो को दो युगो मे विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमे रचित अंगो की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमे रचित या निर्यूढ आगमों की भापा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है[१७]।

अर्द्ध मागधी और जैन महाराष्ट्री प्राकृत मे जो अन्तर है, उसका सक्षिप्त रूप यह है :—

शब्द-भेद

१—अर्ध मागधी मे ऐसे प्रचुर शब्द है, जिनका प्रयोग महाराष्ट्री मे प्राय उपलब्ध नही होता, यथा—अज्झत्थिय, अज्झोवण्ण, अणुवीति, आघवणा, आघवेत्तग, आणापाणू, आवीकम्म, कण्हुइ, केमहालय, दुरूढ, पंचत्थिमिल्ल, पउकुव्व, पुरत्थिमिल्ल, पोरेवच्च, महतिमहालिया, वक्क, विउस इत्यादि।

२—ऐसे शब्दो की सख्या भी वहुत वडी है, जिनके रूप अर्धमागधी और महाराष्ट्री मे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते है·—

अर्धमागधी	महाराष्ट्री	अर्धमागधी	महाराष्ट्री
		जाया	जत्ता
अभियागम	अब्भाअम	णिगण, णिगिण (नग्न)	नग्ग
आउटण	आउचण	णिगिणिण (नागण्य)	णग्गत्तण
आहरण	उआहरण	तच्च (तृतीय)	तइअ
उप्पि	उवरिं, अवरिं	तच्च (तथ्य)	तच्छ
किया	किरिआ	तेगिच्छा	चिइच्छा
कीस, केस	केरिस	दुवाल सग	वारसग
केवच्चिर	किअच्चिर	दोच्च	दुइअ
गेहि	गिद्धि	नितिय	णिच्च
चियत्त	चइअ	निएय	णिअअ
छच्च	छक्क	पडुप्पन्न	पच्चुप्पण्ण

पच्छेकम्म	पच्छाकम्म	वग्गू	वाआ
पाय (पाल)	पत्त	वाहणा (उपानह)	उवाणआ
पुठो (पृथक)	पुहं, पिह	सहेज्ज	सहाअ
पुरेकम्म	पुराकम्म	सीआण, सुसाण	मसाण
पुव्वि	पुव्वं	सुमिण	सिमिण
माय (माल)	अत्त, मेत्त	सुहम, सुहुम	सण्ह
माहण	बम्हण	सोहि	सुद्धि
मिलक्खु, मेच्छ	मिलिच्छ		

और दुवालस, बारस, तेरस, अउणवीसइ, बत्तीम, पणत्तीस, इगयाल, तेयालीस, पणयाल, अठयाल, एगट्ठि, बावट्ठि, तेवट्ठि, छात्रट्ठि, अढसट्ठि, अउणत्तरि, बावत्तरि, पण्णत्तरि, सत्तहत्तरि, तेयासी, छलसीइ, बाणउइ प्रभृति संख्या-शब्दो के रूप अर्धमागधी मे मिलते है, महाराष्ट्री मे वैसे नही।

नाम-विभक्ति

१—अर्धमागधी मे पुल्लिंग अकारान्त शब्द के प्रथमा के एक वचन मे प्राय सर्वत्र 'ए' और क्वचित्'ओ' होता है, किन्तु महाराष्ट्री मे 'ओ' ही होता है।

२—सप्तमी का एक वचन 'स्सि' होता है जब महाराष्ट्री मे 'म्मि'।

३—चतुर्थी के एक वचन में 'आए' या 'आते' होता है, जैसे देवाए, सवणयाए, गमणाए, अट्ठाए, अहिताते, असुभाते, अखभाते (ठा० पत्र ३५८) इत्यादि, महाराष्ट्री मे यह नही है।

४—अनेक शब्दो के तृतीया के एक वचन मे सा' होता है, यथा—मणसा, वयसा, कायसा, जोगसा, वलसा, चक्खुसा, महाराष्ट्री मे इनके स्थान मे क्रमश मणेण, वएण, काएण, जोगेण, वलेण, चक्खुणा।

५—'कम्म' और 'धम्म' शब्द के तृतीया के एक वचन में पाली की तरह 'कम्मुणा' और 'धम्मुणा' होता है, जबकि महाराष्ट्री मे 'कम्मेण' और 'धम्मेण'।

६—अर्धमागधी मे 'तत्' शब्द के पचमी के बहुवचन मे 'तेब्भो' रूप भी देखा जाता है।

७—'युष्मत' शब्द का षष्ठी का एकवचन संस्कृत की तरह 'तव' और 'अस्मत्' का षष्ठी का बहुवचन 'अस्माक' अर्धमागधी में पाया जाता है, जो महाराष्ट्री मे नही है।

आख्यात-विभक्ति

१—अर्धमागधी मे भूतकाल के बहुवचन मे 'इसु' प्रत्यय है, जैसे – पुच्छिसु, गच्छिसु, आमासिंसु इत्यादि। महाराष्ट्री में यह प्रयोग लुप्त हो गया है।

धातु-रूप

१—अर्धमागधी मे आइक्खइ, कुव्वइ, भुवि, होक्खती, बूया, अब्बवी, होत्था, हुत्था, पट्टारेत्था, आघं, दुरूहइ, विगिंचए, तिवायए, अकासी, तिउट्टई, तिउट्टिज्जा, पडिसंधयाति, सारयती, घेच्छिइ, समुच्छिहिंति, आहसु प्रभृति प्रभूत प्रयोगो मे धातु की प्रकृति, प्रत्यय अथवा—ये दोनो जिस प्रकार में पाये जाते है, महाराष्ट्री मे वे भिन्न-भिन्न प्रकार के देखे जाते है।

धातु-प्रत्यय

१—अर्धमागधी मे 'त्वा' प्रत्यय के रूप अनेक तरह के होते है: –

(क) टटु जैसे—कट्टु, सद्दहट्टु, अवहट्टु इत्यादि।

(ख) इत्ता, एत्ता, इत्ताण और एत्ताण: यथा—चइत्ता, विउट्टित्ता, पासित्ता, करेत्ता, पासित्ताण, करेत्ताण इत्यादि।

(ग) इत्तु यथा—दुरुहित्तु, जाणित्तु, वधित्तु, प्रभृति।

(घ) च्चा: जैसे किच्चा, णच्चा, सोच्चा, भोच्चा, चेच्चा आदि।

(ङ) इया: यथा—परिजाणिया, दुरूहिया आदि।

(च) इनके अतिरिक्त विउक्कम्म, निसम्म, समिच्च, सखाए अणुवीति, लद्धु, लद्धूण, दिस्सा आदि प्रयोगो मे 'त्वा' के रूप भिन्न-भिन्न तरह के पाये जाते है।

२—'तुम्' प्रत्यय के स्थान मे इत्तए या इत्तते प्रायः देखने मे आता है। जैसे—करित्तए, गच्छित्तए, सभुजित्तए, उवासमित्तते (विपा० १३), विहरित्तए आदि।

३—ऋकारान्त धातु के 'त' प्रत्यय के स्थान मे 'ड' होता है, जैसे—कड, मड, अभिहड, वावड, सवुड, वियुड, वित्थड प्रभृति।

तद्धित

१—'तर' प्रत्यय का तराय रूप होता है, यथा अणिट्ठतराए, अप्पतराए, बहु-तराए, कंततराए इत्यादि ।

२—आउसो, आउसंतो, गोमी, बुसिम, भगवतो, पुरत्थिम, पचत्थिम, ओयंसी, दोसिणो, पोरेवच्च आदि प्रयोगो में 'मतुप' और अन्य 'तद्धित' प्रत्ययो के जैसे रूप जैन अर्धमागधी मे देखे जाते है, महाराष्ट्री में वे भिन्न तरह के होते है ।

महाराष्ट्री से जैन अर्धमागधी मे इनके अतिरिक्त और भी अनेक सूक्ष्म भेद है, जिनका उल्लेख विस्तार-भय से यहाँ नही किया गया है ।

आगम वाचनाएं

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ [१८]। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न सा हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्ग-वासी हो गए । आगम-ज्ञान की शृङ्खला टूट सी गई । दुर्भिक्ष मिटा तब सघ मिला । श्रमणो ने ग्यारह अंग सकलित किए । बारहवें अग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नही रहा । वे नेपाल मे महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे । संघ की प्रार्थना पर उन्होने बारहवें अग की वाचना देना स्वीकार कर लिया । पन्द्रह सौ साधु गए । उनमे पाँच सौ विद्यार्थी थे ओर हजार साधु उनकी परिचर्या में नियुक्त थे । प्रत्येक विद्यार्थी-साधु के दो-दो साधु परिचारक थे । अध्ययन प्रारम्भ हुआ । लगभग विद्यार्थी-साधु थक गए । एकमात्र स्थूलभद्र बच रहे । उन्हें दस पूर्व की वाचना दी गई । बहिनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होने सिंह का रूप बना लिया । भद्रबाहु ने इसे जान लिया । वाचना बन्द करदी । फिर बहुत आग्रह करने पर चार पूर्व दिये पर उनका अर्थ नही बताया । स्थूलभद्र पाठ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली थे । अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु ही थे । स्थूलभद्र के बाद दश पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा । वज्रस्वामी अन्तिम दश-पूर्वधर हुए । वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्य-रक्षित हुए । वे नौ पूर्व पूर्ण और दशवें पूर्व के २४ यविक जानते थे । आर्य-रक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वो का अध्ययन किया किन्तु अनभ्यास के कारण वे नवें पूर्व को भूल गए । विस्मृति का यह क्रम आगे बढता गया ।

आगम-सकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा मे हुआ। इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे आगम सकलित हुए। उसे वल्लभी-वाचना या नागार्जुन वाचना कहा जाता है।

वीर-निर्वाण की १० वी शताब्दी-माथुरी-वाचना के अनुयायियो के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियो के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी ने वल्लभी मे फिर से आगमो का व्यवस्थित लेखन किया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नही हुई। वीर की दसवी शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई[१९]।

आगम-विच्छेद का क्रम

भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। आर्थीदृष्टि से अन्तिम चार पूर्वो का विच्छेद इसी समय हुआ। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ।

शाब्दी दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के समय वीर-निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हुए। इनके बाद दशपूर्वो की परम्परा आर्यव्रत्‍तक चली। उनका स्वर्गवास वीर-निर्वाण के ५७१ (विक्रम सवत् १०१) वर्ष पश्चात् हुआ। उसी समय दशवां पूर्व विच्छिन्न हुआ। नवां पूर्व दुर्बलिका पुष्यमित्र की मृत्यु के साथ—वीर निर्वाण ६०४ वर्ष (वि० सवत् १३४) मे लुप्त हुआ।

पूर्वज्ञान का विच्छेद वीर-निर्वाण (वि० सवत् ५३०) के हजार वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्ष तक चोदह पूर्वो का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दशपूर्व रहे। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह अगो की

परम्परा २२० वर्ष तक चली । उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए । उनके पश्चात् एक अंग आचारांग का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला । इसके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए । वीर-निर्वाण ६८३ (वि० संवत् २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया । केवल ज्ञान के लोप की मान्यता में दोनो सम्प्रदाय एक मत है । चार पूर्वों का लोप भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमे ऐक्य है । केवल काल-दृष्टि से आठ वर्ष का अन्तर है । श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात् । यहाँ तक दोनो परम्पराएँ आस-पास चलती है । इसके पश्चात् उनमे दूरी बढती चली जाती है । दशवें पूर्व के लोप की मान्यता मे दोनो मे काल का बडा अन्तर है । श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्वी वीर-निर्वाण से ५४८ वर्ष तक हुए और दिगम्बर परम्परा के अनुसार २४५ वर्ष तक । श्वेताम्बर एक पूर्व की परम्परा को देवर्द्धिगणि तक ले जाते और आगमो के कुछ मौलिक भाग को अब तक सुरक्षित मानते है । दिगम्बर वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमो का पूर्ण लोप स्वीकार करते है ।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ के पश्चात्—आगमो का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया ।

श्वेताम्बर मान्यता है कि आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिणाम में लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नही, अब भी वह शेष है । अगो और उपांगों की जो तीन बार सकलना हुई, उसमे मौलिक रूप अवश्य ही बदला है । उत्तरवर्ती घट-नाओ और विचारणाओ का समावेश भी हुआ । स्थानांग मे सात निह्नवो और नव गणो का उल्लेख स्पष्ट प्रमाण है । प्रश्न-व्याकरण का जो विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप में उपलब्ध नही है । इस स्थिति के उपरान्त भी अगो का अधिकांश भाग मौलिक है । भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है । आचा-रांग का प्रथम श्रुत रचना-शैली की दृष्टि से शेष सब अगो से भिन्न है । आज के भाषाशास्त्री उसे ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते है । सूत्र कृतांग, स्थानांग

और भगवती भी प्राचीन है । इसमें कोई सन्देह नही, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है ।

अनुयोग

अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध, वे चार हैं (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग (४) द्रव्यानुयोग । आर्य-वज्र तक अनुयोग के विभाग नही थे । प्रत्येक सूत्र मे चारो अनुयोगो का प्रतिपादन किया जाता था । आर्य-रक्षित ने इस पद्धति मे परिवर्तन किया । इसके निमित्त उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र बने । आर्य-रक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे दुर्बलिका-पुष्य, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल । विन्ध्य इनमे मेधावी था । उसने आर्य-रक्षित से प्रार्थना की —"प्रभो ! मुझे सहपाठ में अध्ययन-सामग्री बहुत विलम्ब से मिलती है । इसलिए शीघ्र मिले, ऐसी व्यवस्था कीजिए ।" आर्य-रक्षित ने उसे आलापक देने का भार दुर्बलिका पुष्य को सौपा । कुछ दिन तक वे उसे वाचना देते रहे । फिर एक दिन दुर्बलिका पुष्य ने आर्य-रक्षित से निवेदन किया—गुरुदेव ! इसे वाचना दूँगा तो मेरा नवां पूर्व विस्मृत हो जाएगा । अब जो आर्यवर का आदेश हो वही करूँ । आर्य-रक्षित ने सोचा—दुर्बलिका पुष्य की यह गति है । अब प्रज्ञा-हानि हो रही है । प्रत्येक सूत्र में चारो अनुयोगो को धारण करने की क्षमता रखने वाले अब अधिक समय तक नही रह सकेंगे । चिन्तन के पश्चात् उन्होने आगमो को—चार अनुयोगो के रूप मे विभक्त कर दिया[२०] ।

आगमों का पहला संस्करण भद्रबाहु के समय मे हुआ था और दूसरा संस्करण आर्य-रक्षित ने (वीर-निर्वाण ५८४-५९७ मे) किया । इस सस्करण मे व्याख्या की दुरूहता मिट गई । चारो अनुयोगो मे आगमों का विभाग इस प्रकार किया —

(१) चरण-करण-अनुयोग	— कालिक सूत्र
(२) धर्मकथानुयोग	— उत्तराध्ययन आदि ऋषि-भाषित
(३) गणितानुयोग (कालानुयोग)	—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि
(४) द्रव्यानुयोग	— दृष्टिवाद[२१]

दिगम्बर-परम्परा मे ये चार अनुयोग कुछ रूपान्तर से मिलते है। उनके नाम क्रमशः ये है:—

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग[२२]।

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगो का विषय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आचार

(२) चरित, दृष्टान्त, कथा आदि

(३) गणित, काल

(४) द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगो का विषय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) महापुरुषों के जीवन-चरित्र

(२) लोकलोक विभक्ति, काल, गणित

(३) आचार

(४) द्रव्य, तत्त्व।

दिगम्बर आगमो को लुप्त मानते है, इसीलिए वे प्रथमानुयोग में महापुराण और पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग मे प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि को समाविष्ट करते है।

लेखन और प्रतिक्रिया

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्राग्-ऐतिहासिक है। प्रज्ञापना में १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है[२३]। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियां सिखाई—ऐसा उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि में मिलता है[२४]। जैन सूत्र वर्णित ७२ कलाओ में लेख-कला का पहला स्थान है[२५]। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओ का उपदेश किया तथा असि, मसि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए[२६]। इनमें आये हुए लेख-कला और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते है। नन्दी सूत्र में तीन प्रकार का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमें पहला

संज्ञाक्षर है। इसका अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—सस्थान लिपि।

लेख-सामग्री

प्राग्-ऐतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता[२७]। राजप्रश्नीय सूत्र मे पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र) छदन, (ढक्कन) सांकली, मषि और लेखनी—इन लेख सामग्री के उपकरणो की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना मे 'पोत्थारा' शब्द आता है[२८]। जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य—इसे शिल्पार्य मे गिना गया है तथा इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते है[२९]। भगवती सूत्र के आरम्भ मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि मे भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती है, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पाठ्यमान शब्द दोनो प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नही, उसी का एक अश है। स्थानांग मे पाँच प्रकार की पुस्तकें वतलाई है[३०] —(१) गण्डी (२) कच्छवी (३) मुष्टि (४) सपुट फलक (५) सृपाटिका। हरिभद्र सूरि ने भी दशवैकालिक टीका मे प्राचीन आचार्यो की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्ही पुस्तको का उल्लेख किया है[३१]। निशीथ चूर्णी में भी इनका उल्लेख है[३२]। अनुयोग द्वार का पोत्थकम्म (पुस्तक-कर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रवल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड-पत्र अथवा सपुटक-पत्र सचय किया है और कर्म का अर्थ उसमे वर्तिका आदि से लिखना। इसी सूत्र मे आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि०) के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का भी यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला में पढने लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्माण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्कस ने लिखा है[३३]—'भारतवासी लोग कागज बनाते थे[३४]।' ईसवी के दूसरे शतक मे ताड़ पत्र और चौथे मे भोज-पत्र लिखने

के व्यवहार में लाए जाते थे[३५]। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में ई० स० पांचवीं मे लिखे हुए पत्र मिलते हैं[३६]। तथ्यों के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग होता था, इसका दो हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्-मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओ के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा विधान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम लिखने का इतिहास

जैन दृष्टि के अनुसार श्रुत-आगम की विशाल ज्ञान राशि १४ पूर्व में संचित है। वे कभी लिखे नही गए। किन्तु अमुक-अमुक परिणाम स्याही से उनके लिखे जा सकने की कल्पना अवश्य हुई है—द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद मथुरा में आर्य-स्कन्दिल की अध्यक्षता में साधु-संघ एकत्रित हुआ। आगमों को संकलित कर लिखा गया और आर्य स्कन्दिल ने साधुओ को अनुयोग की वाचना दी। इस लिए उनकी वाचना माथुरी वाचना कहलाई। इनका समय वीर-निर्माण ८२७ से ८४० तक माना जाता है। मथुरा वाचना के ठीक समय पर वल्लभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमण-संघ को एकत्र कर आगमों को संकलित किया। नागा-र्जुन और अन्य श्रमणों को जो आगम और प्रकरण याद थे, वे लिखे गए। सक-लित आगमों की वाचना दी गई, यह 'नागार्जुनीय' वाचना कहलाती है। कारण कि इसमें नागार्जुन की प्रमुखता थी। वीर-निर्माण ९८० वर्ष में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने फिर आगमो को पुस्तकारूढ किया और सघ के समक्ष उसका वाचना किया[३७]। यह कार्य बलभी में सम्पन्न हुआ। पूर्वोक्त दोनो वाचनाओं के समक्ष लिखे गए आगमों के अतिरिक्त अन्य प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे गए। दोनो वाचनाओ के सिद्धान्त का समन्वय किया गया और जो महत्वपूर्ण भेद थे उन्हे 'पाठान्तर' आदि वाक्यावली के साथ आगम, टीका, चूर्णि मे सगृहीत किया गया[३८]।

प्रतिक्रिया

आगमो के लिपि-बद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नही सकते और अपने साथ रख भी नही सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है। १—अक्षर लिखने मे कुन्थु आदि त्रस जीवो की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक लिखना सयम विराधना का हेतु है[३९]। २—पुस्तको को ग्रामान्तर ले जाते हुए कधे छिल जाते है, व्रण हो जाते है। ३—उनके छेदो की ठीक तरह 'पडिलेहना' नही हो सकती। ४—मार्ग में भार बढ़ जाता है। ५—वे कुन्थु आदि जीवो के आश्रय होने के कारण अधिकरण है अथवा चोर आदि से चुराये जाने पर अधिकरण हो जाते है। ६—तीर्थंकरो ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नही दी है। ७—उनके पास मे होते हुए सूत्र—गुणन में प्रमाद होता है—आदि-आदि। साधु जितनी बार पुस्तको को बांधते है, खोलते है और अक्षर लिखते है उन्हें उतने ही चतुर्लघुको का दण्ड आता है और आज्ञा आदि दोष लगते है[४०]। आचार्य भिक्षु के समय भी ऐसी विचारधारा थी। उन्होने इसका खण्डन भी किया है[४१]।

कल्प्य-अकल्प्य-मीमांसा

आगम सूत्रो मे साधु को न तो लिखने की स्पष्ट शब्दो मे आज्ञा ही है और न निषेध भी किया है। लिपि की अनेक स्थानो मे चर्चा होने पर साधु लिखते थे, इसकी कोई चर्चा नही मिलती। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान किया है। उसके साथ लिखने का विधान नही मिलता। ध्यान कोष्ठोपगत, स्वाध्याय और सद्ध्यान रक्त आदि पदो की भांति—'लेख रक्त' आदि शब्द नही मिलते[४२]। साधु की उपधि-सख्या मे भी लेखन सामग्री के किसी उपकरण का उल्लेख नही मिलता। ये सब पुराकाल मे 'जैन साधु नही लिखते थे'—इसके पोषक है। ऐसा एक मन्तव्य है। फिर भी उनको लिखने का कल्प नही था—ऐसा उनके आधार पर नही कहा जा सकता। इनमें एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। वह है उपधि की सख्या। कई आचार्यो का १४ उपधि से अधिक उपधि न रखने का आग्रह था। आचार्य भिक्षु ने इसके प्रतिकार में यह बताया

कि साधु इनके अतिरिक्त उपकरण रख सकता है[४३]। प्रश्न व्याकरण मे साधु के लिए लगातार १६ उपधि गिनाये है[४४]। अन्य सूत्रों की साक्षी से उपधि का सकलन किया जाय तो उनकी सख्या ३० तक पहुँच जाती है। साध्वी के लिए ४ उपधि और स्थवीर के लिए ११ उपधि और अधिक बतलाए गए है[४५]। अब प्रश्न यह होता है कि उपकरणो की इस सख्या से अतिरिक्त उपकरण जो रखे जाते है, वे कैसे ? इसके उत्तर मे कहना होगा कि वह हमारे आचार्यो की स्थापना है। सूत्र से विरुद्ध न समझ कर उन्होने वैसी आज्ञा दी है। जैसा कि आचार्य भिक्षु ने कहा है[४६]। केवल लिखने के लिए सम्भवत· २०-२५ या उससे भी अधिक उपकरणो की जरूरत होती है। सूत्रो में इनके रखने की साफ शब्दों मे आज्ञा तो दूर चर्चा तक नही है। इसी आधार पर कइयो ने पुस्तक-पन्नो तथा लेख-सामग्री रखने का विरोध किया। इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा कि सूत्रो मे शुद्ध साधुओ के लिए लिखना चला बताया गया है[४७]। इसलिए पन्नें तथा लेख सामग्री रखने मे कोई दोष नही है। क्योंकि जो लिखेंगे, उन्हें पत्र और लेखनी भी रखने होगे। स्याही भी और स्यायी-पात्र भी[४८]। आचार्य भिक्षु ने साधु को लिखना कल्पता है और जब लिखने का कल्प है तब उसके लिए सामग्री भी रखनी होगी, ऐसा स्थिर विचार प्रस्तुत ही नही किया अपितु प्रमाणों से समर्थित भी किया है। इसके समर्थन में चार शास्त्रीय प्रमाण दिए है[४९]। इनमें निशीथ की प्रशस्ति गाथा को छोड़ कर शेष तीनो प्रमाण लिखने की प्राचीनता के साधक है—इसमे कोई सन्देह नही। बहुविध-अवग्रह वाली मति-सम्पदा से साधुओ के लिखने की पद्धति की स्पष्ट जानकारी मिलती है। निशीथ की प्रशस्ति गाथा का लिखित (लिहिय) शब्द महतर विशाख गणि की लिपि का सूचक माना जाय तो यह भी लिखने का एक पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु यदि इस लिखित शब्द को अन्य अर्थ मे लिया जाय तो हमें मानना होगा कि मूल पाठ मे लिखने की बात नही मिलती। इसलिए हमे इसे आचार्यो के द्वारा की हुई सयौक्तिक स्थापना ही मानना होगा। पूर्ववर्ती आचार्यों ने शास्त्रो का विच्छेद न हो, इस दृष्टि से आगे चल कर पुस्तक रखने का विधान किया, यह भी उनकी जीत-व्यवहार-परम्परा है[५०]।

अंग-उपांग तथा छेद और मूल

दिगम्बर-साहित्य मे आगमो के दो ही विभाग मिलते है—अंग-प्रविष्ट और अग-वाह्य।

श्वेताम्वर-परम्परा मे भी मूल-विभाग यही रहा। स्थानांग, नन्दी आदि मे यही मिलता है। आगम-विच्छेद काल मे पूर्वो और अगो के निर्यूहण और शेषांप रहे, उन्हे पृथक् सज्ञाएं मिली। निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प और दशाश्रुत-स्कन्व को छेद-सूत्र कहा गया।

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तव अंग-प्रविष्ट को उसके अंग स्थानीय और वारह सूत्रो का उपांग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जंघाएं, दो ऊरु, दो गात्रार्ध, दो वाहु, ग्रीवा और शिर—ये वारह अग होते है, वैसे ही आचार आदि श्रुत-पुरुप के वारह अग है। इसलिए ये अग-प्रविष्ट कहलाते है[५१]।

कान, नाक, आँख, जघा, हाथ और पैर—ये उपांग है। श्रुत-पुरुप के भी औपपातिक आदि वारह उपांग है।

वारह अगों और उनके उपांगो की व्याख्या इस प्रकार है :—

अग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्र	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्य-प्रज्ञप्ति
ज्ञातृधर्म कथा	जम्वूद्वीप प्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृद्-दशा	कल्पिका
अनुत्तरौपपातिक दशा	कल्पावतसिका
प्रश्न-व्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प-चूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णि-दशा[५]

उपांग का प्रयोग उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-भाष्य मे किया है[५३]।

अंग स्वतः और उपांग परतः प्रमाण है, इसलिए अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह प्रयोग समुचित है।

छेद का प्रयोग उनके भाष्यों में मिलता है। मूल का प्रयोग सभवतः सबसे अधिक अर्वाचीन है। दशवैकालिक, नन्दी, उत्तराध्ययन और अनुयोगद्वार—ये चार मूल माने जाते है। कई आचार्य महानिशीथ और जीतकल्प को मिला छेद-सूत्र छह मानते है। कई जीतकल्प के स्थान में पंचकल्प को छेद-सूत्र मानते है।

मूल-सूत्रो की सख्या मे भी एक मत नही है। कई आचार्य आवश्यक और ओघ-निर्युक्ति को भी मूल-सूत्र मान इनकी संख्या छह बतलाते है। कई ओघनिर्युक्ति के स्थान में पिण्ड-निर्युक्ति को मूल-सूत्र मानते है।

कई आचार्य नन्दी और अनुयोगद्वार को मूल-सूत्र नही मानते। उनके अनुसार ये चूलिका-सूत्र है। इस प्रकार अग-बाह्य श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों मे योजना हुई है।

आगमों का वर्तमान रूप और संख्या

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-सघ मिला। बहुत सारे बहु-श्रुत मुनि काल कर चुके थे। साधुओ की सख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष जनित कठि-नाइयों से प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओ की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। श्रुत की विस्मृति हो गई।

देवर्द्धिगणि ने अवशिष्ट सघ को वलभी मे एकत्रित किया। उन्हे जो श्रुत कण्ठस्थ था, वह उनसे सुना। आगमों के आलापक छिन्न-भिन्न न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति से उनका संकलन किया, संपादन किया और पुस्तकारूढ़ किया।

आगमो का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणि का है। अंगो के कर्त्ता गणधर हैं। अग बाह्य-श्रुत के कर्त्ता स्थविर है। उन सबका सकलन और सम्पादन करने वाले देवर्द्धिगणि है। इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्त्ता भी माने जाते हैं[५४]।

नंदी सूत्र में आगमों की सूची इस प्रकार है :—

उत्तराध्ययन, दशाश्रुत-स्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, दीप सागर प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान-प्रविभक्ति, अगचूलिका, वगचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोवपात, वरुणोवपात, गरुलोवपात, धरणोवपात, वेसमणोवपात, वेलधरोव-पात, देविंदोवपात, उत्थानश्रुत, समुत्थान श्रुत, नागपरियापनिका, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, आशीविषभावना, दृष्टिविषभावना चारण-भावना, महास्वप्न-भावना, तेजोग्निनिसर्ग।

दशवैकालिक, कल्पिकाकल्पिक, चुल्लकल्प श्रुत, महाकल्प श्रुत,

औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रावेध्यक, सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषी मंडल, मंडल प्रवेश, विद्या-चरण-विनिश्चय, गणि-विद्या, ध्यान-विभक्ति, मरण-विभक्ति, आत्म-विशोधि, वीतराग-श्रुत, सलेखना-श्रुत, विहार-कल्प, चरणविधि, आतुर-प्रत्याख्यान, महा-प्रत्याख्यान। (न० ४६)

इनमें से कुछ आगम उपलब्ध नही है। जो उपलब्ध है, उनमें मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय कुछ निर्युक्तियो को मिला ४५ या ८४ आगमों को प्रमाण मानता है।

४५ आगमों की सूची

(१) आचारांग
(२) सूत्रकृतांग
(३) स्थानांग
(४) समवायांग
(५) व्याख्या प्रज्ञप्ति
(६) ज्ञातृ धर्म कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृद्दशा
(९) अनुत्तरौपपातिक
(१०) प्रश्न-व्याकरण
(११) विपाक
(१२) औपपातिक
(१३) राजप्रश्नीय
(१४) जीवाजीवाभिगम
(१५) प्रज्ञापना
(१६) सूर्य-प्रज्ञप्ति
(१७) चन्द्र-प्रज्ञप्ति
(१८) जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
(१९) कल्पिका
(२०) कल्पावतसिका
(२१) पुष्पिका
(२२) पुष्प-चूलिका
(२३) वृष्णि-दशा
(२४) आवश्यक
(२५) दशवैकालिक
(२६) उत्तराध्ययन
(२७) पिण्ड-निर्युक्ति अथवा ओघ-निर्युक्ति
(२८) नन्दी
(२९) अनुयोगद्वार
(३०) निशीथ
(३१) महा-निशीथ
(३२) वृहत्कल्प
(३३) व्यवहार
(३४) दशाश्रुत-स्कध
(३५) पचकल्प (विच्छिन्न)
(३६) आतुर-प्रत्याख्यान
(३७) भक्त-परिज्ञा
(३८) तन्दुल-वैचारिक
(३९) चन्द्र-वेध्यक

(४०) देवेन्द्रस्तव
(४१) गणि-विद्या
(४२) महा-प्रत्याख्यान
(४३) चतुःशरण
(४४) वीरस्तव
(४५) संस्तारक

८४ आगमों की सूची

१ से ४५—पूर्वोक्त
४६—कल्प-सूत्र (पर्यूषणकल्प, जिन-चरित, स्थविरावलि, समाचारी)
४७—यतिजीत-कल्प (सोमप्रभ सूरि)
४८—श्रद्धाजीत-कल्प (धर्मघोषसूरि) } दोनो जीत-कल्प
४९—पाक्षिक-सूत्र
५०—क्षमापना-सूत्र } आवश्यक सूत्र के अग हैं ।
५१—वंदितु
५२—ऋषि-भाषित
५३—अजीव-कल्प
५४—गच्छाचार
५५—मरण-समाधि
५६—सिद्ध-प्राभृत
५७—तीर्थोद्गार
५८—आराधना-पताका
५९—द्वीपसागर प्रज्ञप्ति
६०—ज्योतिष-करण्डक
६१—अंग-विद्या
६२—तिथि-प्रकीर्णक
६३—पिण्ड-विशुद्धि
६४—सारावलि
६५—पर्यन्ताराधना
६६—जीव-विभक्ति
६७—कवच-प्रकरण
६८—योनि-प्राभृत
६९—अगचूलिया
७०—वगचूलिया
७१—वृद्ध-चतु शरण
७२—जम्बू-पयन्ना
७३—आवश्यक-निर्युक्ति
७४—दशवैकालिक-निर्युक्ति
७५—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
७६—आचारांग-निर्युक्ति
७७—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
७८—सूर्य-प्रज्ञप्ति
७९—बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८०—व्यवहार
८१—दशाश्रुतस्कध-निर्युक्ति
८२—ऋषिभाषित-निर्युक्ति (अनुपलब्ध)
८३—ससक्त निर्युक्ति
८४ विशेष-आवश्यक-भाष्य

स्थानकवासी और तेरापन्थ के अनुसार मान्य आगम ३२ है। वे ये है :—

आगम

अंग	उपांग	मूल	छेद	
१–आचारांग	१–औपपातिक	१–दशवै-कालिक	१–निशीथ	
२–सूत्रकृतांग	२–राजप्रश्नीय	२–उत्तरा-ध्ययन	२–व्यवहार	
३–स्थानांग	३–जीवाभिगम	३–अनुयोग-द्वार	३–बृहत् कल्प	
४–समवायांग	४–प्रज्ञापना	४–नन्दी	४–दशाश्रुत-स्कन्ध	
५–भगवती	५–जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति			
६–ज्ञातृधर्मकथा	६–चन्द्र-प्रज्ञप्ति			
७–उपासकदशा	७–सूर्य-प्रज्ञप्ति			१–आवश्यक
८–अन्तकृद्दशा	८–निरयावलिका			
९–अनुत्तरौप-पातिक	९–कल्पवतंसिका			
१०–प्रश्न-व्याकरण	१०–पुष्पिका			
११–विपाक	११–पुष्पिचूलिका			
	१२–वृष्णिदशा			

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह "स्तबक" व जोडो तक चलता है।

द्वितीय भद्रबाहु ने ११ निर्युक्तियां लिखी :—

१—आवश्यक-निर्युक्ति
२—दशवैकालिक-निर्युक्ति
३—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
४—आचारांग-निर्युक्ति
५—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
६—दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
७—बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८—व्यवहार-निर्युक्ति
९—पिण्ड-निर्युक्ति
१०—ओघ-निर्युक्ति
११—ऋषिभाषित-निर्युक्ति

इनका समय विक्रम की पाँचवी, छठी शताब्दी है। बृहत्कल्प की निर्युक्ति भाष्य-मिश्रित अवस्था मे मिलती है, व्यवहार-निर्युक्ति भी भाष्य मे मिली हुई है —

भाष्य और भाष्यकार

१—दशवैकालिक-भाष्य
२—व्यवहार-भाष्य
३—बृहत्कल्प-भाष्य
४—निशीथ-भाष्य
५—विशेषावश्यक-भाष्य—जिनभद्र क्षमाश्रमण (सातवी शताब्दी)
६—पचकल्प-भाष्य—धर्मसेन गणी (छठी शताब्दी)

निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक है, वे प्राकृत भाषा मे लिखे गए है।

चूर्णियाँ और चूर्णिकार

चूर्णियाँ गद्यात्मक है। इनकी भाषा प्राकृत या सस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। निम्न आगम ग्रन्थो पर चूर्णियां मिलती हैं :—

१—आवश्यक
१—दशवैकालिक
३—नन्दी
४—अनुयोगद्वार
५—उत्तराध्ययन
६—आचारांग
७ सूत्रकृतांग
८—निशीथ
६—व्यवहार
१०—दशाश्रुत-स्कध
११—बृहत्कल्प
१२—जीवाभिगम
१३—भगवती
१४ – महा-निशीथ
१५—जीतकल्प
१६—पचकल्प
१७ –ओघ-निर्युक्ति

प्रथम आठ चूर्णियो के कर्त्ता जिनदास महत्तर है। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवी शताब्दी है। जीतकल्प-चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेन सूरि हैं। उनका जीवनकाल विक्रम की १२ वी शताब्दी है। बृहत्कल्प चूर्णी प्रलम्ब सूरि की कृति है। शेष चूर्णिकारों के विषय मे अभी जानकारी नही मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्त्ता है—अगस्त्यसिंह मुनि। उनका समय अभी भलीभांति निर्णीत नही हुआ।

टीकाएं और टीकाकार

आगमों के पहले संस्कृत-टीकाकार हरिभद्र सूरि है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर टीकाएं लिखी।

विक्रम की तीसरी शताब्दी मे उमास्वाति ने जैन-परम्परा में जो संस्कृत-वाङ्मय का द्वार खोला, वह अब विस्तृत होने लगा। शीलांक सूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांक पर टीकाएं लिखी। शेष नव अंगो के टीकाकार है—अभयदेव सूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, वृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार मलयगिरि हैं।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्याय-शास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्याय-शास्त्रियो ने अपने-अपने तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर कस कर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया। तब जैन न्याय शास्त्री भी इस ओर मुड़े। विक्रम की पांचवी शताब्दी में न्याय का जो नया स्रोत चला, वह बारहवी शताब्दी में बहुत व्यापक हो चला।

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न्याय-शास्त्रियों की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की १९ वी सदी मे श्रीमद् भिक्षु स्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने आगम के सैकडों दुरूह स्थलो पर प्रकीर्ण व्याख्याएं लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुत-स्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन (२७ अध्ययन) और भगवती सूत्र पर पद्यात्मक व्याख्या लिखी। आचारांग (द्वितीय श्रुत-स्कध) का वार्तिक और आगम-स्पर्शी अनेक प्रकरण रचे।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या और न्याय-शास्त्र से बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर ही हम जैन दर्शन के हृदय को छूने का यत्न करेंगे।

परवर्ती-प्राकृत साहित्य

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उसमे सर्वोपरि महत्त्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अगो के बचे-खुचे अंशो के लुप्त होने का प्रसंग आया। तब आचार्य धरसेन (विक्रम दूसरी शताब्दी) ने भूतवलि और पुष्यदन्त नाम दो साधुओ को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनों ने षट्खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय मे आचार्य गुणधर हुए। उन्होने कपाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वो के शेशांप है। इसलिए इन्हें पूर्वो से उद्धृत माना जाता है। इन पर प्राचीन कई टीकाए लिखी गई है, वे उपलब्ध नही है। जो टीका वर्तमान मे उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होने विक्रम सवत् ८७३ मे षट्खण्डागम की ७२ हजार श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी।

कषाय-पाहुड पर २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच मे ही उनका स्वर्ग-वास हो गया। उसे उन्ही के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ मे हुई। उसका शेष भाग ४० हजार श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनो को मिला इसका प्रमाण ६० हजार श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और सस्कृत के सक्रान्ति काल की रचना है। इसीलिए इसमे दोनों भाषाओ का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अन्तिम भाग महा-वध है। इसके रचयिता आचार्य भूतवलि है। यह ४१ हजार श्लोक-प्रमाण है। इन तीनों ग्रन्थो मे कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

विक्रम की दूसरी शती मे आचार्य कुन्दकुन्द हुए। इन्होने अध्यात्मवाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। इनका झुकाव निश्चयनय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय—ये इनकी प्रमुख रचनाए है। इनमे आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम दशवी शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द चक्रवर्ती हुए। उन्होने गोम्मटसार और लब्धिसार-क्षपणासार—इन दो ग्रन्थो की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते है। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएँ है।

श्वेताम्बर-आचार्यो ने मध्ययुग में जैन-महाराष्ट्री मे लिखा। विक्रम की तीसरी शती मे शिवशर्म सूरि ने कम्मपपडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास

लिखा । विक्रम की छठी शताब्दी में सघदास क्षमाश्रमण ने वासुदेव हिन्दी नामक एक कथा ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा[५५] । इसमे वसुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओ, चरित्रो, विविध वस्त्रो, उत्सवो और विनोद-साधनो का वर्णन किया है । जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समक्ष माना है[५६] ।

विक्रम की सातवी शताब्दी मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए । विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है । यह जैनागमो की चर्चाओ का एक महान् कोष है । जीतकल्प, विशेषणवती , बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्र-समास भी इनके महत्व-पूर्ण ग्रन्थ है ।

हरिभद्र सूरि विक्रम की आठवी शती के विद्वान् आचार्य है । "समराइच्च कहा" इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है । सस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है ।

मध्य काल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र-विद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोष आदि अनेक विषयक ग्रन्थ लिखे गए है[५७] ।

संस्कृत साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियो के अनुभव, उनकी संग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसकी आधार भाषा—ये तीनो चीजें दुनियां के सामने तत्त्व रखा करती है । सूरज, हवा और आकाश की तरह ये तीनो चीजें सबके लिए समान है । यह एक ऐसी भूमिका है, जहाँ पर साम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे सब भेद मिट जाते है ।

संस्कृत-साहित्य के समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने न किया—यह विचार कोई महत्व नही रखता । वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि मे बहती है । फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचार धाराएं है वे त्रिपथगा (गगा) की तरह लम्बे अर्से तक बही है ।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा । जैनो ने अर्धमागधी भाषा और बौद्धो ने पाली भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए । इसके बाद मे इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने जो साहित्य

बनाया, वह लौकिक (वर्तमान में प्रचलित) सस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है ।

लौकिक संस्कृत मे लिखने के सम्बन्ध मे किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना जरा कठिन है ।

सक्कय पागय चेव, पसत्थ इसि भासिय[५८]

सस्कृत और प्राकृत—ये दोनो श्रेष्ठ भाषाएं है और ऋषियो की भाषाए है । इस तरह आगम-प्रणेताओ ने संस्कृत और प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके सस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनो का मार्ग प्रशस्त बना दिया ।

संस्कृत भाषा तार्किको के तीखे तर्क-बाणो के लिए तूणीर बन चुकी । इसलिए इस भाषा का अध्ययन न करने वालो के लिए अपने विचारो की सुरक्षा खतरे में थी । अत सभी दार्शनिक सस्कृत-भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे ।

जैनाचार्य भी इस दौड़ मे पीछे नही रहे । वे समय की गति को पहचान ने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वयं इस ओर मुड़े । उन्होने पहले ही कदम मे प्राकृत-भाषा की तरह सस्कृत-भाषा पर भी अधिकार जमा लिया ।

जिस तरह से वैदिक लोग वेदो को और बौद्ध त्रिपिटक को स्वत: प्रमाण मानते है, उसी प्रकार जैनो के लिए गणिपिटक (द्वादशांगी) स्वत प्रमाण है । गणिपिटक के अग मे जो चौदह पूर्व थे, वे सस्कृत भाषा मे ही रचे गए—परम्परा से ऐसी अनुश्रुती चल रही है । किन्तु उन पूर्वो के विच्छिन्न हो जाने के कारण उनकी सस्कृत का क्या रूप था, यह बताने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नही है । जैन-साहित्य अभी जो उपलब्ध हो रहा है, वह विक्रम सम्वत् से पहले का नही है । इतिहासकार यह मानते है कि विक्रम की तीसरी शताब्दी मे उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र (मोक्ष-शास्त्र) की रचना की । जैन-परम्परा मे सस्कृत कल्पवृक्ष का यह पहला फूल था । उमास्वाति ने सम्यग् दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चरित्र जिन्हें जैन दर्शन मोक्ष-मार्ग के रूप मे मानता है, को सूत्रों मे सुव्यवस्थित किया । जैनेतर विद्वानों के लिए जैन-दर्शन का परिचय पाने के

लिए यह ग्रन्थ आज भी प्रमुख साधन है। उमास्वाति ने और भी अनेक ग्रन्थो की रचना की, जिनमे 'प्रशमरति' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें प्रशम और प्रशम से पैदा होने वाले आनन्द का सुन्दर निरूपण और प्रासङ्गिक बहुत से तथ्यो का समावेश है, जैसे—

काल, क्षेत्रं, मात्रां, सांत्म्य, द्रव्य-गुरु-लाघवं स्वबलम्
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ॥

उमास्वाति की प्रतिभा तत्त्वो का संग्रह करने में बडी कुशल थी। तत्त्वार्थ-सूत्र में वह बहुत चमकी है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है—

—'उपोमास्वातिं संग्रहीतार[५९]—'

इतिहासकार मानते है कि सिद्धसेन दिवाकर चौथी और पांचवीं शताब्दी के बीच में हुए, वे महान् तार्किक, कवि और साहित्यकार थे। उन्होंने बत्तीस बत्ती-सियों (द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका) की रचना की। वे रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उनमें भावो की गहनता और तार्किक प्रतिभा का चमत्कार है। इनके विषय में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के ये विचार है—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था ?
अशिक्षितालापकला क्व चैपा ?
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः,
स्खलद्गति स्तस्य शिशुर्न शोच्यः।[६०]

'अनुसिद्धसेन कवयः', सिद्धसेन चोटी के कवि थे[६१]। उन्होने अनेकान्त दृष्टि की व्यवस्था की और अनेक दृष्टियो का सुन्दर ढग से समन्वय किया। आगमो में जो अनेकान्त के बीज बिखरे हुए पडे थे, उनको पल्लवित करने मे सिद्धसेन और समन्तभद्र—ये दोनों आचार्य स्मरणीय है। भारतीय न्याय-शास्त्र पर इन दोनों आचार्यों का वरद हाथ रहा, यह तो अति स्पष्ट है। सिद्धसेन ने भगवान् महा-वीर की स्तुति करते हुए साथ मे विरोधी दृष्टिकोणों का भी समन्वय किया—

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः
स्वभावनियता प्रजा. समयतन्त्रवृत्ताः क्वचित् ?

स्वय कृतभुज. क्वचित् परकृतोपभोगा: पुन-
नर्वा विगद-वाद ! दोष-मलिनोऽस्यहो विस्मय.[६२] ।

परमात्मा मे अपने को विलीन करते हुए सिद्धसेन कहते है—

न शब्दो, न रूप रसो नापि गन्धो,
न वा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिङ्गम् ।
न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति सज्ञा,
स एक परात्मा गतिमे जितेन्द्र-[६३]॥

जैन-न्याय की परिभाषाओ का पहला रूप न्यायावतार में ही मिलता है ।

आचार्य समन्तभद्र के विषय में दो मत हैं—कुछ एक इतिहासकार इनका अस्तित्व सातवी शताब्दी मे मानते है और कुछ एक चौथी शताब्दी मे[६४] । उनकी रचनाए देवागम-स्त्रोत, युक्त्यनुशासन, स्वयभू-स्त्रोत आदि है । आधुनिक युग का जो सब से अधिक प्रिय शब्द 'सर्वोदय' है, उसका प्रयोग आचार्य समन्त-भद्र ने बडे चामत्कारिक ढग से किया है—

सर्वान्तवत् तद् गुणमुख्यकल्प,
सर्वान्तशून्यञ्च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकर निरन्त,
सर्वोदय तीर्थमिद तवैव[६५]॥

विक्रम की तीसरी शताब्दी मे जैन परम्परा में जो सस्कृत-साहित्य किशोरा-वस्था मे था, वह पांचवी से अठारहवी शताब्दी तक तरुणावस्था में रहा ।

अठारहवी शताब्दी मे उपाध्याय यशोविजयजी हुए, जो एक विशिष्ट श्रुत-धर विद्वान् थे । जिन्होने सस्कृत-साहित्य को खूब समृद्ध बनाया । उनके कुछ एक तथ्य भविष्य की बात को स्पष्ट करने वाले या क्रान्त-दर्शन के प्रमाण है ।

आत्मप्रवृत्तावति जागरूक, परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः ।
सदा चिदानन्दपदोपभोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी[६६]॥

महात्मा गांधीजी को जो भेंट स्वरूप तीन बन्दर मिले थे, उनमें जो आरो-पित कल्पनाए है, वे इस श्लोक के 'बधिरान्धमूक' शब्द में स्पष्ट संकेतित है ।

उपाध्याय यशोविजयजी ने केवल दर्शन-क्षेत्र में ही समन्वय नही किया बल्कि योग के विषय में भी बहुत बडा समन्वय प्रस्तुत किया। पातञ्जल योग-सूत्र का तुलनात्मक विवरण, योगदीपिका, योगविंशिका की टीका आदि अनेक ग्रन्थ उसके प्रमाण है।

इन्होने नव्य-न्याय की शैली मे अधिकार पूर्वक जैन-न्याय के ग्रन्थ तैयार किए। बनारस मे विद्वानो से सम्पर्क स्थापित करके जैन-न्याय की प्रतिष्ठा बहुत बढाई। ये 'लघुहरिभद्र' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

हरिभद्र सूरि का समय विक्रम की आठवी शताब्दी माना जाता है। इन्होने १४४४ प्रकरणों की रचना की ऐसा सुप्रसिद्ध है[६७]। इनमे से जो प्रकरण प्राप्त है, वे इनके प्रखर पाण्डित्य को बताने वाले है। अनेकान्त-जयपताका आदि आकर (बड़े) ग्रन्थ दार्शनिक जगत् के गौरव को पराकाष्ठा तक पहुँचा देते है। यशोविजय ने योग के जिस मार्ग को विशुद्ध बनाया उसके आदि बीज हरिभद्र सूरि ही थे। योग-दृष्टि-समुच्चय, योग-बिन्दु, योग-विंशिका आदि समन्वयात्मक ग्रन्थ योग के रास्ते मे नये कदम थे। दिङ्नाग-रचित न्याय-प्रवेश की टीका लिख कर इन्होने जैनो को बौद्ध-न्याय का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। समन्वय की दृष्टि से इन्होंने नई दिशा दिखाई। लोकतत्त्व-निर्णय की कुछ एक सूक्तियाँ दृष्टि में ताजगी भर देती है जैसे—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य. परिग्रह· ॥

दार्शनिक-मूर्धन्य अकलंक, उद्योतन सूरि जिनसेन, सिद्धर्षि आदि-आदि अनेक दूसरे-दूसरे बड़े प्रतिभाशाली साहित्यकार हुए। समस्त साहित्यकारो के नाम बताना और उनके ग्रन्थो की गणना करना जरा कठिन है। यह स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने प्रचलित समस्त विषयों मे अपनी लेखनी उठाई। अनेक ग्रन्थ ऐसे बृहत्काय बनाए, जिनका श्लोक-परिमाण ५० हजार से भी अधिक है। सिद्धर्षि की बनाई हुई 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' कथा-साहित्य का एक उदाहरणीय ग्रन्थ है। कुवलयमाला, तिलक मञ्जरी, यशस्तिलक-चम्पू आदि अनेक गद्यात्मक ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण है। चरित्रात्मक काव्य भी बहुत बड़ी

सख्या मे लिखे गए। जो सस्कृत नही जानते है, उनका भी सस्कृत के प्रति जो आकर्षण है उसका एकमात्र यही कारण है कि उसमे महापुरुषो के जीवन-चरित्र सकलित किये गए है।

नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के जो ग्रन्थ लिखे गए, उनकी भाषा ने भी लोगो को अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया। सस्कृत-साहित्य की रसभरी सूक्तियां और अपनी स्वतन्त्र विशेषताए रखने वाले सिद्धान्त जन-जन की जबान पर आज भी अपना स्थान बनाये हुए है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अर्हन्नीति नामक जो एक सक्षिप्त ग्रन्थ बनाया है, उसमे कुछ एक ऐसे तत्त्व है जो युद्ध के नशे मे अपने विवेक को खो बैठे है, उनके भी विवेक को जगाने वाले है। उदाहरण के तौर पर एक श्लोक पढिए—

सन्दिग्धो विजयो युद्धे, ऽसन्दिग्धः पुरुषक्षयः।
सत्स्वन्येष्वित्युपायेषु, भूपो युद्ध विवर्जयेत्[६८]॥

व्याकरण भाषा का आधार होता है। गुजरात और बगाल मे पाणिनि-व्याकरण का प्रचलन बहुत थोडा था। वहाँ पर कालापक और कातन्त्र व्याकरण की मुख्यता थी। किन्तु ये दोनो व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण और सांगोपांग नही थे। आचार्य हेमचन्द्र ने सांगोपांग 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' नामक व्याकरण की रचना की। उनका गौरव बड़े श्रद्धा भरे शब्दो मे गाया गया है—

किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापि हि येनेदृक्, कृत शब्दानुशासनम्॥

व्याकरण के पाँच अग है! सूत्र, गणपाठ सहित वृत्ति, धातुपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन। इन सब अगो की स्वय अकेले हेमचन्द्र ने रचना करके सर्वथा स्वतन्त्र व्याकरण बनाया। जैनो के दूसरे भी चार व्याकरण हैं—विद्यानन्द, मुष्टि, जैनेन्द्र और शाकटायन।

अठारहवी शताब्दी के बाद सस्कृत का प्रवाह सर्वथा रुक गया हो, यह बात नही। बीसवी सदी मे तेरापंथ सम्प्रदाय के मुनि श्री चौथमलजी ने 'भिक्षु शब्दानुशासन' नामक महाव्याकरण की रचना की। आचार्य लावण्य सूरि ने

धातु-रत्नाकर के सकलन में बहुत बड़ा प्रयत्न किया। इस सदी में दूसरे भी बहुत से प्रयत्न सस्कृत-साहित्य की रचना के लिए हुए।

जैनो ने केवल साहित्य-प्रणयन के द्वारा ही सस्कृत के गौरव को नही बढाया किन्तु साहित्य को सुन्दर अक्षरो में लिपिबद्ध करके पुस्तक भण्डारो में उसकी सुरक्षा करते हुए सस्कृत की धारा को अविच्छिन्न रूप से चालू रखा। बहुत से बौद्ध और वेदिक-शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ आज भी जैन-भण्डारो में सुरक्षित है।

जैनाचार्यो ने बहुत से जैनेतर-ग्रन्थो की टीकाए' बना कर अपने अनेकान्त-वादी दृष्टिकोण का सुन्दर परिचय दिया। भानुचन्द्र और सिद्धचन्द्र की बनाई हुई जो कादम्बरी की टीका है, उसे पडितो ने मुख्य रूप से मान्य किया है। जैना-चार्यो ने रघुवश, कुमारसम्भव, नैषध आदि अनेक काव्यो की टीकाए बनाई है। सारस्वत, कातन्त्र आदि व्याकरण, न्याय-शास्त्र तथा और भी दूसरे विषयो को लेकर इस तरह अपनी लेखनी चलाई कि साहित्य सभी की समान सम्पत्ति है— यह कहावत चरितार्थ हो गई।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का समय सस्कृत के ह्रास की ओर झुकने वाला समय था। आचार्य हेमचन्द्र प्राकृत और अपभ्र श के समर्थक थे। फिर भी उन्होने सस्कृत-साहित्य को खूब समृद्ध बनाया। फलत: उसके रुके हुए प्रवाह को अन्तिम श्वास गिनने का मौका न मिल सका। आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्वाचार्यों की आलोचनाए' की और उनकी विशेषताओ का आदर भी किया। 'सूक्ष्मदर्शिना धर्म-कीर्तिना' आदि को जेनेतर आचार्यों के विषय मे इनके उद्गार निकले है, वे इनकी उदार-वृत्ति के परिचायक है।

समस्त जैन विद्वानो के प्रौढतम तर्कों, नये-नये उन्मेषवाले विचारो, चिर-काल के मन्थन से तैयार की हुई नवनीत जैसी सुकुमार रचनाओ, हिमालय जैसे उज्जवल अनुभवो और सदाचार का निरूपण सस्कृत भाषा में हुआ है। मध्ययुग जैनाचार्यो ने अलौकिक सस्कृत-भाषा को जनसाधारण की भाषा करने का जो प्रयत्न किया है, सम्भवत उसका मूल्यांकन ठीक नही हो पाया।

आगमो की वृत्तियो और टीकाओं में संस्कृत-भाषा को व्यापक बनाने के लिए मध्ययुग के इन आचार्यो ने प्रान्तीय शब्दो का बहुत सग्रह किया। उत्तरवर्ती

सस्कृत-लेखक भी उसी पद्धति का अनुसरण करते तो आज सस्कृत को मृत-भाषा की उपाधि न मिलती। यह सम्भव नही कि कोई भी भाषा जन-सम्पर्क से दूर रह कर चिरजीवी वन सके। कोरे साहित्यिक रूप मे रहने वाली भाषा ज्यादा टिक नही सकती।

अनेक व्यक्तियो ने सस्कृत को उपेक्षा की नजर से देखा किन्तु समय-समय पर उन्हें भी इसकी अपेक्षा रखनी पडी है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि सस्कृत मे लोगो के श्रद्धा-स्पद धार्मिक विचारो का सग्रह और वहुत से स्तुत्यात्मक ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र ने परमार्हत राजा कुमारपाल के प्रात स्मरण के लिए वीतराग-स्तव वनाया[६९]। उसका पाठ करते हुए भावुक व्यक्ति भक्ति-सरिता मे गोते खाने लग जाते है।

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकऽस्म्यस्मि किङ्कर।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ नात पर ब्रुवे[७०]॥

इस श्लोक मे आचार्य हेमचन्द्र वीतराग के चरणो मे आत्म-समर्पण करके भार-मुक्त होना चाहते हैं। और कही पर यह कह वैठते है कि—

कल्याणसिद्ध्यै साधीयान्, कलिरेव कपोपल।
विनाग्नि गन्ध-महिमा काकतुण्डस्य नैधते[७१]॥

वीतराग मे भक्ति-विभोर वन कर आचार्य हेमचन्द्र कलिकाल के कष्टो को भी भूल जाते है।

काव्य के क्षेत्र मे भी जैनाचार्य पीछे नही रहे। त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, शान्तिनाथ चरित्र, पद्मानन्द महाकाव्य और भरत-वाहुवलि आदि काव्य काव्य-जगत् मे शीर्षस्थानीय है। उनकी टीकाए न होने के कारण आज भी उनका प्रचार पर्याप्त नही है। वहुत सारे काव्य आज भी अप्रकाशित है, इसलिए लोग उनकी विशेषताओ से अपरिचित है। अष्टलक्षार्थी काव्य मे 'राजानो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरो के आठ लाख अर्थ किये गये है। इससे आचार्य ने दो तथ्य हमारे सामने रखे है—एक तो यह कि वर्णों मे अनन्त पर्याय है। दूसरा तथ्य यह कि सस्कृत मे एक ऐसा लचीलापन है कि जिससे वह अनेक विवर्तों (परिवर्तनो) को सह सकता है। सप्त-सन्धान काव्य मे वुद्धि की विलक्षणता है। वह मानस को आश्चर्य-विभोर किये देती है। प्रत्येक श्लोक मे सात व्यक्तियो

का जीवन-चरित्र पढा जाता है।

उन्होंने शब्द-लालित्य के साथ भाव-लालित्य का भी पूरा ध्यान रखा है। दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्तियो के बीच दरार डालने की विशाल शक्ति होती है। उसकी विशालता के सामने कवि को बड़े बड़े समुद्र और पहाड़ भी छोटे से दीखने लगते है।

भवतात् तटिनीश्वरोन्तरा विषमोऽस्तु क्षितिभृच्चयोन्तरा।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा पिशुनो मास्तु किलान्तरावयो·[७२] ॥

अपने बडे भाई सम्राट् भरत को मारने के लिए पराक्रम-मूर्ति बाहुबलि की मुष्टि ज्योहि उठती है, त्योंही देववाणी से वह शान्त हो जाती है। कवि इस स्थिति को ऐसे सुन्दर ढग से रखता है कि पाठक शमरस-विभोर बन जाते है[७३]।

अयिबाहुबले कलहायवल, भवतो भवदायतिचारु किमु
प्रजिघांसुरसित्वमपि स्वगुरुं,
यदि तद्गुरुशासनकृतक इह ॥ ६९ ॥

नृप ! सहर-संहर कोपमिम तव येन पथा चरितश्चपिता
सर तां सरणि हि पितुः पदवी,
न जहत्यनघास्तनयाः क्वचन ॥ ७१ ॥
धरिणी हरिणीनयना नयते,
बशतां यदि भूप ! भवन्तमलम्
विधुरो विधिरेप तदा भविता,
गुरुमाननरूप इहा क्षयत ॥ ७२ ॥
तव मुष्टिमिमां सहते भुवि को,
हरिहेतिमिवाधिकघातवतीम्।
भरता चरित चरित मनसा, स्मर मा स्मर केलिमिव श्रमण ॥ ७३ ॥
अयि साधय साधय साधुपद
भज शान्तरसं तरसा सरसम्।
ऋषभध्वज वशनभस्तरणे ! तरणाय
मन. किल धावतु ते ॥ ७४ ॥

इति यावदिमा गगनाङ्गणतो,
मरुतां विचरन्ति गिर शिरसः ।
अपनेतुमिमांश्चिकुरानकरोद्,
बलमात्मकरेण स तावदयम् ॥७५॥

अप्रकाशित महाकाव्य की गरिमा से लोग अवगत हो इस दृष्टि से उसके कुछ श्लोक यहाँ प्रस्तुत किये गए है ।

मुझे आशका है कि विषय अधिक लम्बा न हो जाय । फिर भी काव्यरस का आस्वाद छोडना जरा कठिन होता है । खैर, काव्य-पराग का थोडा-सा आस्वाद और चख लें ।

अहह चुल्लिगृहेषु वधूकर-प्रथितभस्ममहावसना अपि ।
गुरुतरामपि जाग्रति यामिनी, हुतभुजोपि हिमै स्मदुता इव[७४] ॥

कवि यहाँ पर रात्रि-जागरण का वर्णन करता हुआ पाठको के दिलो मे भी सर्दी की विभीपिका पैदा करता है । कवि विश्व की गोद मे रमने वाले चेतन और अचेतन पदार्थो का निकटता से अनुभव करता है । उनमे वह किसी की भी उपेक्षा नही करता । मरुस्थल के मुख्य वाहन ऊँट तो भूले भी कैसे जा सकते है । उनके बारे मे वह बड़े मजेदार ढग से कहता है—

भरे यथा रोहति भूरि रावा, निरस्यमाने रवणास्तथासन् ।
सदैव सर्वाङ्ग वहिर्मुखानां, हिताहितज्ञानपरांगमुखत्वम्[७५] ॥

यहाँ हमने अतीत के साहित्य पर एक सरसरी नजर डाली है या यो कहिए कि 'स्थाली पुलाक' के न्यायानुसार हमने कुछ एक स्थलो की परीक्षा की है । सिर्फ सुन्दर अतीत की रट लगाने से भविष्य उज्ज्वल बना नही करता । इसलिए ताजी दृष्टिवालों को वर्तमान देखना चाहिए । जिस युग में यह आवाज बुलन्द हो रही है कि सस्कृत मृत-भाषा है, उस युग मे भी जैन उसे सजीव बना रहे है । आज भी नये काव्य, टीकाए, प्रकरण और दूसरे ग्रन्थ बनाए जा रहे है । अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी इस विषय मे बहुत बडा प्रयत्न कर रहे है । आचार्य श्री के अनेक शिष्य आशुकवि है । बहुत-सी साध्वियां बडी तत्परता से सस्कृत के अध्ययन मे सलग्न है । सभी

क्षेत्रों मे यदि इस तरह का व्यापक प्रचार हो तो आशा की जाती है कि मृत कही जाने वाली संस्कृत-भाषा अमृत बन जाय।

शान्त रस के आस्वाद के साथ अब मैं इस विषय को पूरा कर रहा हूँ। गीति-काव्य की मधुर-लहरियाँ सुनने से सिर्फ कानो को ही तृप्त नही करती बल्कि देखने से आँखो मे भी अनूठा उल्लास भर देती है।

शत्रुजना: सुखिन समे, मत्सरमपहाय,
सन्तु गन्तु मनसोत्यमी, शिवसौख्यगृहाय।
सकृदपि यदि समतालवं हृदयेन लिहन्ति
विदित-सारतत इह रति, स्वत एव वहन्ति[७६] ॥

प्रादेशिक साहित्य

दिगम्बर-आचार्यो का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण रहा। दक्षिण की भाषाओ में उन्होने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड भाषा में जैन कवि पोन्न का शान्तिपुराण, पप का आदिपुराण और पम्पभारत आज भी बेजोड़ माना जाता है। रन्न का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवी शती से १६ वी शती तक जैन महर्षियो ने काव्य, व्याकरण, शब्द कोष, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयो पर अपने ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक-संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पांच द्राविड-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमे जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर है[७७]। तामिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पाँच महाकाव्यो मे से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति—जैन कवियो द्वारा रचित है। नन्नोल तामिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियो की कृति है।

गुजराती साहित्य

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओ मे दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है। पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और सस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियो व

महर्षियो ने इस भाषा मे लिखा। विशेष जानकारी के लिए 'जैन गुर्जर कविओ' देखिए।

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी मे जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी मे राजस्थान जैन-मुनियो का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, सविग्न, स्थानकवासी और तेरापन्थ सभी ने राजस्थानी मे लिखा है। रास और चरित्रो की सख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित बहुत ही रोचक है। कवि समय सुन्दरजी की रचनाओ का संग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकल ढालो का संकलन किया जाए तो इतिहास को कई नई झांकियां मिल सकती है।

राजस्थानी भाषाओ का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश है। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओ का भी सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियो मे लिखा गया है—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली (३) लौकिक शैली। जैन शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग है। इस शैली में प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमे आगे तक चले आये है।

जैनो का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अत: जैन शैली मे गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप मे अन्यान्य लोग है (जैनो, ब्राह्मणो, राजपूतो, भाटो आदि ने भी इस शैली में रचना की है)। इसमे भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन शैली से भिन्न प्रकार की है, यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओ मे भी, विशेष कर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुत: अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है [७८]।

तेरापन्थ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी-साहित्य मे एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियो से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओ का प्रमाण ३८ हजार श्लोक के लगभग है। मारवाडी के ठेठ शब्दो मे लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना

उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शान्ति दोनो धाराओ में बहा है। ब्रह्मचारी को मित-भोजी होना चाहिए। अमित-भोजी की शारीरिक और मानसिक दुर्दशा का उन्होने सजीव चित्र खीचा है :—

अति आहार थी दुख हुवै, गलै रूप बल गात।
परमाद निद्रा आलस हुवै, बलै अनेक रोग होय जात॥
अति आहार थी विषय बधै, धणोइज फाटै पेट।
धान अमाऊ ऊरतां, हांडी फाटै नेट[७९]॥
फाटै पेट अत्यन्त रे, बन्ध हुवै नाडियां।
बले श्वास लेवै, अबखो थको ए॥
बलै होवे अजीरण रोग रे।
मुख बासै बुरो, पेट झाले आफरो ए॥
ते उठै उकाला पेट रे, चालै कलमली।
बले छूटै मुख थूकनी ए॥
डील फिरै चक्डोल रे, पित घूमे घणा।
चालै मुजल बलें मुलकणी ए॥
आवै मीठी घणी डकार रे।
बले आवै गुचलका, जद आहार भाग उलटो पडै ए॥
हांड़ी फाटै नेट रे, अधिको ऊरियां।
तो पेट न फाटै किण बिधै ए॥
ब्रह्मचारी इम जाण रे, अधिको नही जीमिए।
उणोदरी में ए गुण घणा ए[८०]॥

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकम्पा, शील री नवबाड़ आदि, उनकी प्रमुख रचनाएं है।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक प्रमाण गद्य-पद्य लिखे।

उनकी लेखनी मे प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वतः प्रमाण उनकी अमर कृतियाँ है। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और अनुरति की

त्रिवेणी मे आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनियां के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, सगीत, कला, सस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोन्मुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुप होने की साक्षी भर रहा है।

कुशल टीकाकार

जयाचार्य ने जैन-आगमों पर अनेक टीकाए लिखी[८१]। उनकी भाषा मारवाड़ी है—गुजराती का कुछ मिश्रण है। वे पद्य-बद्ध है। संगीत की स्वर लहरी से थिरकती गीतिकाओ में जैन तत्त्व-मीमांसा चपलता से तैर रही है। उनमे अनेक समस्याओं का समाधान और विशद आलोचना-आत्मलोचनाएं है। सबसे बड़ी टीका भगवती सूत्र की है, उसका ग्रन्थमान करीब ८० हजार श्लोक है। सही अर्थ में वे थे कुशल टीकाकार।

वार्तिककार और स्तवककार

आचारांग-द्वितीय श्रुतस्कध के जटिल विपयो पर उन्होने वार्तिका लिखा। उसमें विविध उलझन भरे पाठो को विशद चर्चा के साथ सुलझाया है। और विसवाद-स्थानीय स्थलो को बड़े पुष्ट प्रमाणों से संवादित किया है। यो तो उस समूचे शास्त्र का टब्बा भी उन्होने लिखा।

एक तुलनात्मक दृष्टि

अभय देव[८२], शीलांकाचार्य[८३], शांत्याचार्य[८४], हरिभद्र[८५], मलधारी हेमचन्द्र[८६], और मलयगिरि[८७],—जैन-आगमों के प्रसिद्ध संस्कृत-टीकाकार हुए हैं। इनकी टीकाओ मे आगमिक टीकाओं की अपेक्षा दार्शनिक चर्चाओ का बाहुल्य है।

इनके पहले आगमो की टीकाए प्राकृत मे लिखी गई। वे नियुक्ति[८८], भाष्य[८९] और चूर्णि[९०] के नाम से प्रसिद्ध है। इनमे आगमिक चर्चाओ के अतिरिक्त जैन दर्शन की तर्क सगत व्याख्याए भी मिलती है। जैन तत्त्वो की तार्किक व्याख्या करने मे विशेष्यावश्यक भाष्यकार जिनभद्र ने अनूठा कौशल दिखाया है। निर्युक्ति और भाष्य पद-बद्ध है और चूर्णियां गद्यमय। चूर्णियों मे मुख्यतया भाष्य का विपय सक्षेप मे लिखा गया है।

जैन आचार्य लोक भाषा के पोपक रहे है। इसलिए जैन-साहित्य भाषा

की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की विविध भाषाए आज भी जैन-धर्म की व्यापकता की गाथा गा रही है। पायचन्दसूरि और धर्म सिंह[11] मुनि ने गुजराती में टब्बा लिखे[12]। विस्तृत टीकाओ में रस पान जिनके लिए सुगम नही था, उनके लिए ये बड़े उपयोगी बने। दूसरे, ज्यो-ज्यो संस्कृत का प्रसार कम हो रहा था, त्यो-त्यो लोग विषय से दूर होते जा रहे थे। इनकी रचना उस कमी की पूर्ति करने में सफल सिद्ध हुई। हजारो जैन मुनि इन्ही के सहारे सिद्धान्त के निष्णात बने।

जयाचार्य २० वी सदी के महान् टीकाकार है। उनकी टीकाएं सैद्धान्तिक चर्चाओं से भरी पूरी है। शास्त्रीय विषय का आलोड़न-प्रत्यालोड़न मे वे इतने गहरे उतरे जितना कि एक सफल टीकाकार को उतरना चाहिए। दार्शनिक व्याख्याए लम्बी नही चली है। सैद्धान्तिक विधि-निषेध और विसवादो पर उनकी लेखनी तब तक नही रुकी, जब तक जिज्ञासा का धागा नही टूटा। एक बात को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने मे उन्हें अपूर्व कौशल मिला है। सिद्धान्त समालोचना की दृष्टि से उनकी टीकाए बेजोड़ है—यह कहा जा सकता है और एक समीक्षक की दृष्टि से कहा जा सकता है।

प्रबन्धकार

आपने करीब १६ प्रबन्ध लिखे। उनमे कई छोटे है और कई बडे। भाषा सहज और सरस है। सभी रसो के वर्णन के बाद शान्त-रस की धारा बहाना उनकी अपनी विशेषता है। जगह-जगह पर जैन-सस्कृति और तत्त्व-ज्ञान की स्फुट छाया है। इनके अध्ययन से पाठक को जीवन का लक्ष्य समझने मे बड़ी सफलता मिलती है। कवि की भावुकता और सगीत की मधुर स्वर-लहरी से जगमगाते ये प्रबन्ध जीवन की सरसता और लक्ष्य-प्राप्ति के परम उपाय है।

अध्यात्मोपदेष्टा

उनकी लेखनी की नोक अध्यात्म के क्षेत्र मे बड़ी तीखी रही है। आराधना मोहजीत, फुटकर ढालें—ये ऐसी रचनाएं है, जिनमें अचेतन को चेतनावान् बनाने की क्षमता है।

विविध रचनाएं—चर्चा का नया स्रोत

भ्रम विध्वंसन, जिनाज्ञा मुखमडन, कुमति विहडन, सदेह विपौषधि आदि चार्चिक ग्रन्थ, श्रद्धा की चौपाई, फुटकर ढालें आदि सस्कृति के उद्‌वोधक ग्रन्थ, उनकी कुशाग्रीयता के सजग प्रहरी है ।

आगम समन्वय के स्रष्टा

आचार्य भिक्षु की विविध रचनाओ का जैन-आगमो से समन्वय किया, यह आपकी मौलिक सूझ है । आपने इन कृतियों का नाम रखा 'सिद्धान्त सार' । आचार्य भिक्षु की विचार-धारा जैन सूत्रो से प्रमाणित है, यह स्वतः नितर आया है । इसके पहले आगम से दर्शन करने की प्रणाली का उद्‌गम हुआ प्रतीत नही होता । जयाचार्य इसके स्रष्टा है ।

स्तुतिकार

जयाचार्य का हृदय जितना तात्त्विक था, उतना ही श्रद्धालु । उन्होने तीर्थंकर, आचार्य और साधुओ की स्तुति करने मे कुछ उठा नही रखा । वे गुण के साथ गुणी का आदर करना जानते थे । उनकी प्रसिद्ध रचना 'चौवीसी' भक्ति-रस की सजल सरिता है । सिद्धसेन, समन्तभद्र, हेमचन्द्र और आनन्दघन जैसे तपस्वी लेखको की दार्शनिक स्तुतियों के साथ जयाचार्य ने एक नई कडी जोड़ी । उनकी स्तुति-रचना मे आत्म-जागरण का उद्‌वोध है । साधक के लिए दर्शन और आत्मोद्‌वोध—ये दोनो आवश्यक है । आत्मोद्‌वोध के विना दर्शन मे आग्रह का भाव वढ जाता है । इसलिए दार्शनिक की ख्याति पाने से पहले अध्यात्म की शिक्षा पाना जरूरी है ।

जीवनी-लेखक

भारत के प्राच्य साहित्य मे जीवनियाँ लिखने की प्रथा रही है । उसमें अतिरंजन अधिक मिलता है । अपनी कथा अपने हाथो लिखना ठीक नही समझा जाता था । इसलिए जिन किन्ही की लिखी गई, वे प्रायः दूसरो के द्वारा लिखी गई । दूसरे व्यक्ति विशेष श्रद्धा या अन्य किसी स्वार्थ से प्रेरित हो लिखते, इसलिए इनकी कृति मे यथार्थवाद की अपेक्षा अर्थ-वाद अधिक रहता । जयाचार्य इसके अपवाद रहे है । उन्होने वीसियो छोटी-मोटी जीवनियाँ लिखी । सवमे यथार्थ-दृष्टि का पूरा-पूरा ध्यान रखा । वस्तु स्थिति को स्पष्ट

करने के सिवाय वे आगे नही बढे। जीवनी के लेखको में जयाचार्य का एक विशिष्ट स्थान है। भिक्षुजश रसायन, हेम नवरसो आदि आपकी लिखी हुई प्रख्यात जीवनियाँ है।

इतिहासकार

तेरापथ के इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय जयाचार्य को ही है। उन्होने आचार्य भिक्षु की विशेष घटनाओं का संकलन कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साधु-साध्वियो की 'ख्यात' का सग्रह करवाया। इस दिशा मे और भी अनेक कार्य किए।

मर्यादा पुरुषोत्तम

जयाचार्य की शासन-शैली एक कुशल राजनीतिज्ञ की सी थी। वे अनु-शासन और संगठन के महान् निर्देशक थे। उन्होने संघ को सुव्यवस्थित रखने के लिए छोटे-बड़े अनेक मर्यादा-ग्रन्थ लिखे। आचार्य भिक्षु रचित मर्यादाओं की पद्य-बद्ध रचनाए की। आचार्य भिक्षुकृत 'लिखनो की जोड़' एक अपूर्व रचना है।

गद्य-लेखक

प्राचीन लोक-साहित्य में गद्य बहुत कम लिखा गया। प्रत्येक रचना पद्यो में ही की जाती। जयाचार्य बहुत बड़े गद्य-लेखक हुए है। उन्होने 'आचार्य भिक्षुके दृष्टान्त' इतनी सुन्दरता से लिखे है, जो अपनी प्रियता के लिए प्रसिद्ध है।

महान्-शिक्षक

जीवन-निर्माण के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक तत्त्व है। शिक्षा का अर्थ तत्त्व की जानकारी नही। उसका अर्थ है जीवन के विश्लेषण से प्राप्त होने-वाली जीवन-निर्माण की विद्या। जयाचार्य ने एक मनोवैज्ञानिक की भाँति अपने संघ के सदस्यो की मानसिक वृत्तियो का अध्ययन किया। गहरे मनन और चिन्तन के बाद उस पर लिखा। यद्यपि इस विषय पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही लिखा, कई फुटकर ढालें लिखी, किन्तु उनमें मानव की मनोवृत्तियो का जिस सजीवता के साथ विश्लेषण हुआ है वह अपने ढग का निराला है। जीवन को बनाने के लिए, मनकी वृत्तियो को सुधारने के लिए, जो सुझाये है, वे अचूक है।

आचार्य श्री तुलसी की राजस्थानी मे अनेक रचनाए है। उनमे कालू यशोविलास प्रमुख कृति है। उसमे अपने गुरुदेव कालूगणी के जीवन का सांगोपांग वर्णन है। उसका एक प्रसंग यह है :—

मेवाड के लोग श्रीकालूगणी को अपने देश पधारने की प्रार्थना करने आये है। उनके हृदय मे बडी तडफ है। उनकी अन्तर-भावना का मेवाड़ की मेदिनी मे आरोप कर आपने बडा सुन्दर चित्रण किया है :—

"पतित-उधार पधारिए, सगे सवल लहि थाट।
मेदपाट नी मेदिनी, जोवे खडि-खड़ि बाट॥
सघन शिलोच्चयनै मिषे, ऊचा करि-करि हाथ।
चंचल दल शिखरी मिषे, दे झाला जगनाथ॥
नयणां विरह तुमारडै, झरै निझरणा जास।
भ्रमराराव भ्रमे करी, लह लांबा निःश्वास॥
कोकिल कूजित व्याज थी, व्रतिराज उडावै काग।
अरघट खट खटका करी, दिल खटक दिखावै जाग॥
मैं अचला अचला रही, किम पहुचै मम सन्देश।
इम झुर झुर मनु झूरणा, सकोच्यो तनु सुविशेष"[१३]॥

इसमे केवल कवि-हृदय का सारस्य ही उद्वेलित नही हुआ है, किन्तु इसे पढते-पढते मेवाड के हरे-भरे जगल, गगनचुम्बी पर्वतमाला, निर्झर, भँवरे, कोयल, घड़ियाल और स्तोकभूभाग का साक्षात् हो जाता है। मेवाड़ की ऊंची भूमि मे खड़ी रहने का, गिरिश्रृङ्खला मे हाथ ऊंचा करने का, वृक्षो के पवन-चालित दलो मे आह्वान करने का, मधुकर के गुञ्जारव मे दीर्घोष्ण निश्वास का, कोकिल-कूजन मे काक उडाने का आरोपण करना आपकी कवि-प्रतिभा की मौलिक सूझ है। रहँट की घडियो मे दिल की टीस के साथ-साथ रात्रि-जागरण की कल्पना से वेदना मे मार्मिकता आ जाती है। उसका चरम रूप अन्तर्जगत् मे न रह सकने के कारण वहिर्जगत् में आ साकार बन जाता है। उसे कवि-कल्पना सुनाने की अपेक्षा दिखाने में अधिक सजीव हुई है। अन्तर्-व्यथा से पीडित मेवाड की मेदिनी का कृश शरीर वहाँ की भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्र है।

मघवा गणी के स्वर्ग-वास के समय कालुगणी के मनोभावो का आकलन करते हुए आपने गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्ध एव विरह-वेदना का जो सजीव वर्णन किया है, वह कवि की लेखनी का अद्भुत चमत्कार है :—

"नेहडला री क्यारी म्हांरी, मूकी निराधार ।
इसडी कां कोधी म्हारा, हिवड़े रा हार ॥
चितडो लाग्यो रे, मनड़ो लाग्यो रे ।
खिण खिण समरू', गुरु थांरो उपगार रे ॥
किम बिसराये म्हांरा, जीवन - आधार ।
विमल विचार चारू, अव्बल आचार रे ॥
कमल ज्यूँ अमल, हृदय अविकार ।
आज सुदि कदि नही, लोपी तुज कार रे ॥
बह्यो बलि बलि तुम, मीट विचार ।
तो रे क्यां पधास्या, मोये मूको इह वार रे ॥
स्व स्वामी रु शिष्य-गुरु, सम्बन्ध विसार [१४] ।
पिण सांची जन-श्रुति, जगत् मझ र रे ॥
एक पक्खी प्रीत नही, पडै कदि पार ।
पिऊ पिऊ करत, पपैयो पुकार रे ॥
पिण नहीं मुदिर नै, फिकर लिगार [१५] ।

जैन-कथा-साहित्य में एक प्रसग आता है । गजसुकुमार, जो श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे, भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित बन उसी रात को ध्यान करने के लिए श्मशान चले जाते हैं । वहाँ उनका श्वसुर सोमिल आता है । उन्हें साधु-मुद्रा मे देख उसके क्रोध का पार नही रहता । वह जलते अंगारे ला मुनि के शिर पर रख देता है । मुनि का शिर खिचडी की भाँति कलकला उठता है । उस दशा में वे अध्यात्म की उच्च भूमिका में पहुँच 'चेतन-तन-भिन्नता' तथा 'सम शत्रौ च मित्रे च' की जिस भावना मे आरूढ़ होते है, उसका साकार रूप आपकी एक कृति में मिलता है । उसे देखते-देखते द्रष्टा स्वयं आत्म-विभोर बन जाता है । अध्यात्म की उत्ताल ऊर्मियाँ उसे तन्मय किए देती है :—

"जब धरे शीश पर खीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे।
है कौन वरिष्ठ भुवन मे
जो मुझको आकर पीरे ॥
मैं अपनो रूप पिछानूँ,
हो उदय ज्ञानमय भानू।
वास्तव मे वस्तु पराई,
क्यों अपनी करके मानू ॥
मैंने जो सकट पाये,
सब मात्र इन्ही के कारण।
अब तोडूँ सब जजीरे,
ध्यावे यो धृति धर धीरे ॥

कबके ये बन्धन मेरे,
अबलौ नही गये बिखेरे।
जब से मैंने अपनाये,
तब से डाले दृढ डेरे ॥
सम्बन्ध कहा मेरे से,
कहा भैंस गाय के लागे।
है निज गुण असली हीरे,
ध्यावे यो धृति धर धीरे ॥

मैं चेतन चिन्मय चारू,
ये जड़ता के अधिकारू।
मैं अक्षय अज अविनाशी,
ये गलन-मिलन विशरारू ॥
क्यो प्रेम इन्ही से ठायो,

दुर्गति की दलना पायो।
अब भी हो रहूँ प्रतीरे,
ध्यावे यो धृति धर धीरे॥

यह मिल्यो सखा हितकारी,
उत्तारूँ अघ की भारी।
नहिं द्वेष-भाव दिल लाऊँ,
कैवल्य पलक मे पाऊँ॥
सच्चिदानन्द बन जाऊँ,
लोकाग्र स्थान पहुँचाऊँ।
प्रक्षय हो भव प्राचीरे,
ध्यावे यो धृत धर धीरे॥

नहिं मरू न कबही जन्मू,
कहिं परू न जग झंझट में।
फिर जरूँ न आग-लपट मे,
झर पडू न प्रलय - झपट में॥
दुनियां के दारुण दुख में,
धधकत शोकानल धुक में।
नहिं धुकू सहाय सभीरे,
ध्यावे यो धृति धर धीरे॥

नहिं वहूँ सलिल-स्रोतो मे,
नहिं रहूँ भग्न पोतो में,
नहिं जहूँ रूप मैं म्हारो,
नहिं लहूँ कष्ट मौतो में॥
नहिं छिदूं धार तलवारां,

नहिं भिदूं भल्ल भलकारां,
चहे आये शत्रु सभीरे,
ध्यावे यो धृति धर धीरे।"

इसमे आत्म-स्वरूप, मोक्ष, ससार-भ्रमण और जड़-तत्त्व की सहज-सरल व्याख्या मिलती है। वह ठेठ दिल के अन्तरतल मे पैठ जाती है। दार्शनिक की नीरस भाषा को कवि किस प्रकार रस-परिपूर्ण बना देता है, उसका यह एक अनुपम उदाहरण है[९६]।

हिन्दी-साहित्य

हिन्दी का आदि स्रोत अपभ्रंश है। विक्रम की दसवी शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवी शती मे आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन में इसका भी व्याकरण लिखा। उसमे उदाहरण-स्थलो मे अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उसमे बहुत प्रभावित रहा है। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व का महा कवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रइधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रंश मे है। योगीन्द्र का योगासर और परमात्म प्रकाश सत-साहित्य के प्रतीक ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के नए-नए रूपो में जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पाँच शताब्दियो मे वह योग उल्लास-वर्धक नही रहा। इस शताब्दी मे फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है— ऐसा प्रतीत हो रहा है।

धर्म और समाज

धर्म असामाजिक—वैयक्तिक तत्त्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालो का समुदाय बनता है, इसलिए व्यवहार मे धर्म भी सामाजिक बन जाता है।

सभी तीर्थंकरो की भाषा में धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है, उसका साधन द्विरूप नही हो सकता। उसमे मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप भेद नही हो सकता। मुक्ति का अर्थ है—बाह्य का पूर्ण त्याग—सूक्ष्म शरीर का भी त्याग। इसीलिए मुमुक्षु-वर्ग ने बाह्य के अस्वीकार पक्ष को पुष्ट किया। यही तत्त्व भिन्न भिन्न युगो मे निर्ग्रन्थ-प्रवचन, जिन-वाणी और जैन-धर्म की सज्ञा पाता रहा है। भारतीय मानस पर त्याग और तपस्या का प्रतिबिम्ब है, उसका मूल जैन-धर्म ही है।

अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमे "पुरिसादाणीय"[1]—पुरुषादानीय विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे। यह पहले बताया जा चुका है—आगम की भाषा मे सभी तीर्थंकरो ने ऐसा ही प्रयत्न किया। प्रो० तान-युन्शान के अनुसार अहिंसा का प्रचार वैज्ञानिक तथा स्पष्ट रूप से जैन तीर्थंकरो द्वारा और विशेषकर २४ तीर्थंकरो द्वारा किया गया है, जिनमे अन्तिम महावीर-वर्धमान थे[2]।

बिहार का क्रान्ति-घोष

भगवान् महावीर ने उसी शाश्वत सत्य का उपदेश दिया, जिसका उनसे पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर दे चुके थे। किन्तु महावीर के समय की परिस्थितियो ने उनकी वाणी को ओजपूर्ण बनाने का अवसर दिया। हिंसा का प्रयोजन पक्ष सदा होता है—कभी मन्द कभी तीव्र। उस समय हिंसा सैद्धान्तिक पक्ष में भी स्वीकृत थी। भगवान् ने इस हिंसा के आचरण को दोहरी मूर्खता कहा। उन्होंने कहा—प्रातः स्नानादि से मोक्ष नही होता[3]। जो सुबह और शाम

जल का स्पर्श करते हुए—जल स्नान से मुक्ति बतलाते है, वे अज्ञानी है[४]। हुत से जो मुक्ति बतलाते है, वे भी अज्ञानी है[५]।

स्नान, हवन आदि से मुक्ति बतलाना अपरीक्षित बचन है। पानी और अग्नि में जीव है। सब जीव सुख चाहते है—इसलिए जीवों को दुख देना मोक्ष का मार्ग नही है—यह परीक्षित बचन है[६]।

जाति की कोई विशेषता नही है[७]। जाति और कुल त्राण नही बनते[८]। जाति-मद का घोर विरोध किया। ब्राह्मणो को अपने गणों का प्रमुख बना उन्होने जाति समन्वय का आदर्श उपस्थित किया।

उन्होने लोक-भाषा मे उपदेश देकर भाषा के उन्माद पर तीव्र प्रहार किया[९]। आचार धर्म को प्रमुखता दे, उन्होने विद्या-मद की बुराई की ओर स्पष्ट संकेत किया[१०]।

लक्ष्य का विपर्यय समझाते हुए भगवान् ने कहा—"जिस तरह कालकूट विष पीने वाले को मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्र-धारी को ही घातक होता है और जिस तरह विधि से वश नही किया हुआ बैताल मन्त्रधारी का ही विनाश करता है, उसी तरह विषय की पूर्ति के लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मा के पतन का ही कारण होता है[११]।

वैषम्य के विरुद्ध आत्म-तुला का मर्म समझाते हुए भगवान् ने कहा—"प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूँ," हे वादियो! तुम्हे सुख अप्रिय है या दु:ख अप्रिय? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दु ख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियो को, सर्व भूतो को, सर्व जीवो को और सर्व सत्वों को दु ख महा भयकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है[१२]। यह सब समझ कर किसी जीव की हिंसा नही करनी चाहिए।

इस प्रकार भगवान् की वाणी मे अहिंसा की समग्रता के साथ-साथ वैषम्य, जातिवाद, भाषावाद और हिंसक मनोभाव के विरुद्ध क्रान्ति का उच्चतम घोष था। उसने समाज की अन्तर्-चेतना को नव जागरण का संदेश दिया।

तत्त्व चर्चा का प्रवाह

भगवान् महावीर की तप: पूत वाणी ने श्रमणों को आकृष्ट किया। भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ मे सम्मिलित हो

गए[१३]। अन्य तीर्थिक सन्यासी भी भगवान् की परिषद् मे आने लगे। अम्बड,[१४] स्कन्दक, पुद्गल[१५] और शिव[१६] आदि परिव्राजक भगवान् के पास आए, प्रश्न किए और समाधान पा भगवान् के शिष्य बन गए।

कालोदायी आदि अन्य यूथिको के प्रसग भगवान् के तत्त्व-ज्ञान की व्यापक चर्चा पर प्रकाश डालते है[१७]। भगवान् का तत्त्व-ज्ञान बहुत सूक्ष्म था। वह युग भी धर्म-जिज्ञासुओ से भरा हुआ था। सोमिल ब्राह्मण,[१८] तुगिया नगरी के श्रमणोपासक,[१९] जयन्ती श्राविका,[२०] माकन्दी,[२१] रोह, पिंगल[२२] आदि श्रमणो के प्रश्न तत्त्व-ज्ञान की बहती धारा के स्वच्छ प्रतीक है।

बिम्बसार श्रेणिक

भगवान् जीवित धर्म थे। उनका सयम अनुत्तर था। वह उनके शिष्यो को भी सयममूर्ति बनाए हुए था। महानिर्ग्रन्थ अनाथ के अनुत्तर सयम को देखकर मगध सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया। वह जीवन के पूर्व काल में बुद्ध का उपासक था। उसकी पटारानी चेलणा महावीर की उपासिका थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। सम्राट् ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नही झुका। सम्राट् ने महानिर्ग्रन्थ अनाथ को ध्यान-लीन देखा। उनके निकट गए। वार्तालाप हुआ। अन्त मे जैन बन गए[२३]।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ट सम्पर्क रहा। सम्राट् के पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार जैन थे। जैन-परम्परा में आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मांगा जाता है। जैन-साहित्य मे अभयकुमार सम्बन्धी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है[२४]।

श्रेणिक की २३ रानियां भगवान् के पास प्रव्रजित हुई[२५]। उसके अनेक पुत्र भगवान् के शिष्य बने[२६]। सम्राट् श्रेणिक के अनेक प्रसंग आगमो मे उल्लिखित है[२७]।

चेटक

वैशाली १८ देशो का गणराज्य था। उसके प्रमुख महाराजा चेटक थे। वे भगवान् महावीर के मामा थे। जैन-श्रावकों में उनका प्रमुख स्थान था।

वे बारह व्रती श्रावक थे। उनके सात कन्याएँ थी। वे जैन के सिवाय किसी दूसरे के साथ अपनी कन्याओ का विवाह नही करते थे।

श्रेणिक ने चेलणा को कूटनीतिक ढंग से व्याहा था। चेटक के सभी जामाता प्रारम्भ से ही जैन थे। श्रेणिक पीछे जैन बन गया।

चेटक की पुत्रियों के नाम	चेटक के जामाताओं के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रभावती	उदायन	सिधु सौवीर
पद्मावती	दधिवाहन	चम्पा
मृगावती	शतानीक	कौशम्बी
शिवा	चण्ड प्रद्योत	अवन्ती
ज्येठा	भगवान् के भाई नन्दिवर्धन	कुण्डग्राम
सुज्येष्ठा	(साध्वी बन गई)	
चेलणा	बिम्बसार (श्रेणिक)	मगध

अपने दौहित्र कोणिक के साथ चेटक का भीषण सग्राम हुआ था। संग्राम भूमि में भी वे अपने व्रतो का पालन करते थे। अनाक्रमणकारी पर प्रहार नही करते थे। एक दिन मे एक बार से अधिक शस्त्र-प्रयोग नही करते थे। इनके गणराज्य मे जैन-धर्म का समुचित प्रसार हुआ। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् के निर्वाण के समय वही पौषध किये हुए थे।

राजर्षि

भगवान् के पास आठ राजा दीक्षित हुए—इसका उल्लेख स्थानांग सूत्र में मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं:— (१) वीरांगक (२) वीरयशा (३)सजय (४) एणेयक (५) सेय (६) शिव (७) उदायन (८) शंख—काशी-वर्धन। इनमे वीरांगक, वीरयशा और सजय—ये प्रसिद्ध है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्रस्तुत नही किया है। एणेयक श्वेतविका नरेश प्रदेशी का सम्बन्धी कोई राजा था। सेय अमलकप्पा नगरी का अधिपति था। शिव हस्तिनापुर का राजा था। उसने सोचा—मै वैभव से सम्पन्न हूँ, यह मेरे पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल है। मुझे वर्तमान में

भी शुभ कर्म करने चाहिए। यह सोच राज्य पुत्र को सौंपा। स्वय दिशा-प्रोक्षित तापस बन गया। दो-दो उपवास की तपस्या करता और पारणा मे पेड़ से गिरे हुए पत्तों को खा लेता, इस प्रकार की चर्या करते हुए उसे विभग अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसने सात द्वीप और सात समुद्रो को देखा। यह विश्व सात द्वीप और सात समुद्र प्रमाण है, इसका जनता में प्रचार किया।

भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम भिक्षा के लिए जा रहे थे। लोगो मे शिव राजर्षि के सिद्धान्त की चर्चा सुनी। वे भिक्षा लेकर लौटे। भगवान् से पूछा—भगवन्! द्वीप-समुद्र कितने है? भगवान् ने कहा—असत्य है। गौतम ने उसे प्रचारित किया। यह बात शिव राजर्षि तक पहुँची। वह सदिग्ध हुआ और उसका विभग अवधि लुप्त हो गया। वह भगवान् के समीप आया, वार्तालाप कर भगवान् का शिष्य बन गया[२८]।

उदायन सिन्धु, सौवीर आदि सोलह जनपदो का अधिपति था। दस मुकटबद्ध राजा इसके आधीन थे। भगवान् महावीर लम्बी यात्रा कर वहाँ पधारे। राजा ने भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली।

वाराणसी के राजा शख के बारे में कोई विवरण नही मिलता। अन्तकृद् दशा के अनुसार-भगवान् ने राजा अलक को वाराणसी में प्रव्रज्या दी थी। सभव है यह इन्ही का दूसरा नाम है।

उस युग मे शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इसलिए राजाओ का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता। जैन-धर्म ने समाज को केवल अपना अनुगामी बनाने का यत्न नही किया, वह उसे व्रती बनाने के पक्ष पर भी बल देता रहा। शाश्वत सत्यों की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषों से बचने के लिए भी जैन-श्रावक प्रयत्नशील रहते थे। चारित्रिक उच्चता के लिए भगवान् महावीर ने जो आचार-सहिता दी, वह समाज में मानसिक स्वास्थ्य का वातावरण बनाए रखने मे सक्षम है। बारह व्रतो के अतिचार इस दृष्टि से माननीय है[२९]।

स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत के पाँच प्रधान अतिचार है, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं:—(१) बन्धन—बन्धन से बांधना (२) वध—पीटना (३) छवि-

च्छेद— चमड़ी या अवयवों का छेदन करना (४) अतिभार—अधिक भार लादना (५) भक्तपानविच्छेद—भोजन-पानी का विच्छेद करना—(आश्रित प्राणी को भोजन-पानी न देना)

द्वितीय स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत के पाँच प्रधान अतिचार है, जिन्हे श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) सहसाऽभ्याख्यान—सहसा (बिना आधार) मिथ्या आरोप करना (२) रहस्याऽभ्याख्यान—गुप्त मन्त्रणा करते देख कर आरोप लगाना अथवा रहस्य प्रकट करना (३) स्वदार-मन्त्रभेद—अपनी पत्नी का मर्म प्रकट करना (४) मृषोपदेश—असत्य का उपदेश देकर उसकी ओर प्रेरित करना और (५) कूट लेखकरण—झूठे खत—पत्र बनाना।

तीसरे स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत के पाँच प्रधान अतिचार है। श्रमणोपासक को उन्हे जानना चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है·—(१) स्तेनाहृत—चुराई हुई वस्तु खरीदना (२) तस्कर-प्रयोग—चोर की सहायता करना या चोरो को रख कर चोरी कराना (३) राज्य के आयात-निर्यात और जकात कर आदि के नियमो के विरुद्ध व्यवहार करना अथवा परस्पर-विरोधी राज्यो के नियम का उल्लंघन करना (४) कूट-तोल कूटमान—खोटे तोल-माप रखना और (५) तत् प्रतिरूपक-व्यवहार—सदृश वस्तुओ का व्यवहार—उत्तम वस्तु मे हल्की का मिश्रण करना या एक वस्तु दिखा कर दूसरी देना।

चतुर्थ स्थूल मैथुन-विरमण व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—

(१) इतरपरिगृहीतागमन—थोड़े समय के लिए दूसरे द्वारा गृहीत अविवाहित स्त्री के साथ आलाप-सलापरूप गमन करना (२) अपरिगृहीता-गमन—किसी के द्वारा अगृहीत वेश्या आदि से आलाप-सलापरूप गमन करना (३) अनग-क्रीड़ा—कामोत्तेजक आलिंगनादि क्रीडा करना, अप्राकृतिक क्रीड़ा। (४) पर विवाहकरण—पर-सतति का विवाह करना—और (५) कामभोग-तीव्राभिलाषा—काम-भोग की तीव्र आकांक्षा रखना।

स्थूल परिग्रह-परिमाण व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—

(१) क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम—क्षेत्रवास्तु परिमाण का अतिक्रमण करना (२) हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम—चाँदी और सोने के परिमाण का अतिक्रमण करना। (३) धनधान्य-प्रमाणातिक्रम—धन, रुपये, पैसे, रत्नादि और धान्य के परिमाण का अतिक्रमण - उल्लघन करना (४) द्विपद—चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम—द्विपद—तोता, मैना, दास-दासी और चतुष्पद गाय, भैंस आदि पशुओ के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लघन करना और (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम—घर के वर्त्तन आदि उपकरणो के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लघन करना।

छट्ठे दिग्व्रत के पाँच अतिचार है, जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और जिनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) ऊर्ध्व-दिक्-प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण (२) अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम—अधोदिशा के प्रमाण का अतिक्रमण (३) तिर्यग्-दिक्-प्रमाणातिक्रम—अन्य सर्वदिशा-विदिशाओ के प्रमाण का अतिक्रमण (४) क्षेत्र-वृद्धि—एक दिशा में क्षेत्र घटा कर दूसरी मे वढाना और (५) स्मृत्यन्तराधान—परिमाण के सम्वन्ध मे स्मृति न रख आगे जाना।

सातवाँ उपभोग परिभोग व्रत दो प्रकार का कहा गया है—भोजन से और कर्म से। उसमे से भोजन सम्वन्धी पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) सचित्ताहार—प्रत्याख्यान के उपरान्त—सचित्त—सजीव वनस्पति आदि का आहार करना (२) सचित्त प्रतिवद्धाहार—सचित्त वस्तु के साथ लगी अचित्त वस्तु का भोजन करना - जैसे गुठली सहित सूखे वेर या खजूर खाना। (३) अपक्वौषधि-भक्षण - अग्नि से न पकी औषधि—वनस्पति—शाकभाजी का भक्षण करना (४) दुष्पक्वौषधिभक्षण—अर्द्ध पकी औषधि—वनस्पति का भक्षण करना और (५) तुच्छौषधि—असार वनस्पति—शाकभाजी का भक्षण करना।

कर्म-आश्रयी श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है —(१) अगार कर्म—जिसमे अगार—अग्नि का विशेष प्रयोग होता हो, ऐसा उद्योग या व्यापार (२) वन कर्म—जगल, वृक्ष वनस्पति वेचने का व्यापार, वृक्षादि काटने का

धधा (३) शाकट-कर्म - गाड़ी आदि वाहन बनाने बेचने या चलाने का काम करना (४) भाटक कर्म—गाड़ा वगैरह वाहन भाड़े पर चलाने का काम (५) स्फोट-कर्म—जिसमे भूमि खोदने, पर्वत आदि स्फोट करने का काम हो (६) दन्त-वाणिज्य—हाथी-दांत आदि प्राणियो के अवयवो का व्यापार (७) लाक्षावाणिज्य – लाख वगैरह का व्यापार (८) रस-वाणिज्य—मदिरा वगैरह का व्यापार (९) केशवाणिज्य—केश का व्यापार (१०) विष-वाणिज्य—जहरीली वस्तुए और शस्त्रादि का व्यापार (११) यन्त्रपीलन-कर्म—तिल, ऊख वगैरह पीलने का काम (१२) निर्लाछन कर्म—बैल आदि को नपुसक करने का काम (१३) दावाग्नि वापन—वन आदि को अग्नि लगा साफ करने का धन्धा (१४) सरदहतालाब-शोषण—सरोवर, दह, तालाब आदि के शोषण का काम और (१५) असतीजनपोषण—आजीविका के लिए वेश्यादि का पोषण अथवा पक्षियो का खेल-तमाशा, मांस, अण्डे आदि के व्यापार के लिए पोषण ।

आठवें अनर्थ विरमण व्रत के पाँच अतिचार है, जिन्हे श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नही करना चाहिए । वे इस प्रकार है :—(१) कन्दर्प—कामोत्तेजक बातें करना (२) कौत्कुच्य—भौहे, नेत्र, मुह, हाथ, पैर आदि को विकृत कर परिहास उत्पन्न करना (३) मौखर्य—वाचालता, असबद्ध आलाप (४) सयुक्ताधिकरण—हिंसा के साधन शस्त्रादि-तैयार रखना और (५) उपभोग परिभोगातिरिक्तता—उपभोग परिभोग वस्तुओ की अधिकता ।

नववें सामायिक व्रत के पाँच अतिचार है, जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और जिनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) मनोदुष्प्रणिधान – मन की बुरी प्रवृत्ति (२) वाग्दुष्प्रणिधान—वाणी की दुष्प्रवृत्ति तथा (३) कायदुष्प्रणिधान—काया की दुष्प्रवृत्ति की हो (४) स्मृतिअकरण—सामायिक की स्मृति न रखना और (५) अनवस्थित-करण—सामायिक व्यवस्थित—नियत रूप से न करना ।

दसवें देशावकाशिक व्रत के पॉच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) आनयन-

प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर से सन्देशादि द्वारा कोई वस्तु मगाना (२) प्रेष्यण-प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर भृत्यादि द्वारा कुछ भेजना (३) शब्दानुपात—खाँसी वगैरह शब्दो द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को मनोगत भाव व्यक्त करना (४) रूपानुपात—रूप दिखा कर अथवा इ गितो द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को मनोगत भाव प्रगट करना (५) बहि· पुद्गल प्रक्षेप—ककर आदि फेंक कर इशारा करना ।

ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-सस्तारक—वसति और कम्बल आदि का प्रतिलेखन—निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह न करना (२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-सस्तारक—बसति और कम्बल आदि वस्तुओ का प्रमार्जन न करना अथवा अच्छी तरह प्रमार्जन न करना (३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि—उच्चार—टट्टी की जगह और प्रस्रवण—पेशाब करने की जगह का प्रतिलेखन—निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह निरीक्षण न करना (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि—टट्टी की भूमि और पेशाव करने की भूमि का प्रमार्जन न करना अथवा अच्छी तरह से प्रमार्जन न करना (५) पौषधोपवास-सम्यक्अपालन—पौषधोपवास व्रत का विधिवत् पालन नही करना ।

बारहवें यथासविभाग व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) सचित्त-निक्षेप—साधु को देने योग्य आहारादि पर सचित वनस्पति वगैरह रखना (२) सचित्त-पिधान—आहार आदि सचित्त वस्तु से ढकना (३) कालातिक्रम—साधुओ को देने के समय को टालना (४) परव्यपदेश—'यह वस्तु दूसरे की है'—ऐसा कहना और (५) मत्सरिता – मात्सर्यपूर्वक दान देना ।

संलेखना

अपश्चिममारणांतिक-सलेखनाजोषणाराधना के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है —(१) इहलोकाशसा—'मैं राजा होऊं'—ऐसी इहलौकिक

कामना (२) परलोकाशंसा-प्रयोग—'मैं देव होऊ'—ऐसी परलोक की इच्छा करना (३) जीविताशंसा-प्रयोग—'मैं जीवत रहूँ'—ऐसी इच्छा करना (४) मरणाशंसा-प्रयोग—'मैं शीघ्र मरू'—ऐसी इच्छा करना और (५) कामभोगाशंसा-प्रयोग— कामभोग की कामना करना[३०]।

इनमें से कुछेक अतिचारो के वर्णन से केवल आध्यात्मिकता की पुष्टि होती है। किन्तु इसमे अधिकांश ऐसे है जो आध्यात्मिकता की पुष्टि के साथ-साथ जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी समुन्नत बनाए रखते है। दिग्व्रत के अतिचारो में आक्रमण, साम्राज्य-लिप्सा और भोग-विस्तार का भाव दिया है। ऊर्ध्व दिशा और अधो दिशा में जाने के साधनो पर अंकुश लगाया गया है। इन व्रतो और अतिचार—निषेधो का आज के चारित्रिक मूल्यो को स्थिर रखने में महत्त्वपूर्ण योग है। डा० अल्टेकर ने इसका अंकन इन शब्दो में किया है —"हमारे देश मे आने वाले यूनानी, चीनी एव मुसलमान यात्रियों ने बड़ी बड़ी प्रशसात्मक बातें कही है। इससे यह सिद्ध होता है कि सदाचार और तपस्या सम्बन्धी भगवान् महावीर आदि महात्माओ के सिद्धान्त हमारे पूर्वजों के चरित्र मे मूर्त्तिमन्त हुए थे। हम मे यह दुर्बलता जो आज दिखाई पड रही है, वह विदेशी दासता के कारण ही उत्पन्न हुई है। इसलिए समाज से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए आज अणुव्रत के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है[३१]।"

भगवान् महावीर के युग में जैन-धर्म भारत के विभिन्न भागो मे फैला। सम्राट् अशोक के पुत्र सम्प्रति ने जैन-धर्म का सन्देश भारत से बाहर भी पहुँचाया। उस समय जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने अहिसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ई० सन् की पहली शताब्दी मे और उसके बाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्य पूर्व के देशो में किसी न किसी रूप मे यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक वान क्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व मे प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास–लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि "हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम और फिलस्तीन मे जैन–मुनि और बौद्ध-भिक्षु

सैकड़ो की सख्या मे फैले हुए थे। 'सिया हुत नाम ए ना सिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पडा था। कल-दर चार नियमो का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे[३२]।

महात्मा ईसु क्राइस्ट जैन सिद्धान्तो के सम्पर्क मे आये और उनका प्रभाव ले गए थे। रामस्वामी अय्यर ने इस प्रसंग की चर्चा करते हुए लिखा है—"यहूदियो के इतिहास लेखक 'जोजक्स' के लेख से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में गुजरात प्रदेश द्राविडो के तावे मे था और गुजरात का पालीताणा नगर तामिलनाड प्रदेश के अधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जाकर भी यहूदियो ने पालीताणा के नाम से ही "पैलिस्टाइन" नाम का नगर बसाया और गुजरात का पालीताणा ही पैलिस्टाइन हो गया। गुजरात का पालीताणा जैनो का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। प्रतीत होता है कि ईसू ख्रीष्ट ने इसी पालीताणा मे आकर बाईविल लिखित ४० दिन के जैन उपवास द्वारा जैन शिक्षा लाभ की थी[३३]।"

जैन धर्म का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और संयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जाता है। पुरातत्त्व-विद्वान् पी० सी० राय चौधरी के अनुसार—"यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई धर्म का प्रचार यूरोप मे धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओ ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दू शासन के वैभवपूर्ण युग थे। जिन युगो मे जैन-धर्म सा महान् धर्म प्रचारित हुआ[३४]।"

कभी-कभो एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त ने भारत को कायर बना दिया, पर यह सत्य से दूर है। अहिंसक कभी कायर नही होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आई और तब आई जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें ये बातें सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण थी। पहिली सकल्प-

हिंसा का त्याग—अनाक्रमण और दूसरी—परिग्रह का सीमाकरण। यह लोक-तन्त्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी सस्कृत विश्व-विद्यालय के उपकुलपति आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन मे प्रज्ञा और चारित्र्य का समन्वय जैन और बोद्धों की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग-परम्परा का अन्धानुसरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियो से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सन्तुलित दृष्टिकोण ही सत्य मार्ग है। इस दृष्टिकोण को प्राप्ति तभी सम्भव है जब मिथ्या विश्वास पूर्णत दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जैन धर्म का आचार-शास्त्र भी जनतन्त्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मत· सभी व्यक्ति समान है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषत उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। 'परिमित परिग्रह' उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारको के अनुसार परिमित्त-परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आचरणीय था। सम्भवत भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारो का यह प्रथम उद्घोष था[३५]।"

प्रत्येक आत्मा मे अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारो का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने बोए थे। महात्मा गांधी का निमित्त पा, वे केवल भारत के ही नही, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

विस्तार और संक्षेप

भगवान् महावीर की जन्म-भूमि, तपोभूमि और विहारभूमि बिहार था। इसलिए महावीर कालीन जैन-धर्म पहले बिहार मे पल्लवित हुआ। काल क्रम से वह बंगाल, उडीसा, उत्तरभारत, दक्षिणभारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त और राजपूताने में फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव,

लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायो के प्रबल विरोध के कारण जैन-धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियो की अल्प सख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धान्तिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। बीच-बीच मे प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्बुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवी शताब्दी मे गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विलड्यूरेन्ट ने लिखा है—"अकबर ने जैनों के कहने पर शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियो पर पशु-हत्याएँ रोक दी थी। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय मे मांस-भक्षण के निषेध का नियम रखा था[३६]।

जैन मत्री, दण्डनायक और अधिकारियो के जीवन-वृत्त बहुत ही विस्तृत हैं। वे विधर्मी राजाओ के लिए भी विश्वास-पात्र रहे है। उनकी प्रामाणिकता और कर्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अकन पदार्थो से नही, किन्तु चारित्रिक मूल्यो से ही हो सकता है।

जैन संस्कृति और कला

माना जाता है—आर्य भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर ई० सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आये। आर्यो से पहले बसने वाले पूस, भद्र, उर्वश, सुहनू, अनु, कुनाश, शबर, नमुचि, व्रात्य आदि मुख्य थे। जैन-धर्मो मे व्रतो की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। उसके सवाहक श्रमण व्रती थे। उनका अनुग भी समाज व्रात्य था—यह मानने में कोई कठिनाई नही है।

प्राग्-वैदिक और वैदिक काल मे तपो-धर्म का प्राबल्य था। तपो-धर्म का परिष्कृत विकास ही जैन-धर्म है—कुछ विद्वान् ऐसा मानते है[३७]। तपस्या जैन-साधना-पद्धति का प्रमुख अग है। भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी कहलाते थे। जैन-श्रमणो को भी तपस्वी कहा गया है। "तवे सूरा अणगारा" तप में शूर अणगार होते है—यह जैन-परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है।

भगवान् महावीर के समय में जैन-धर्म को निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहा जाता,

था। बौद्ध-साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निग्गठ नातपुत्त' के नाम से हुआ है। वर्तमान मे वही निर्ग्रन्थ-प्रवचन जैन-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

व्रात्य का मूल व्रत है। व्रत शब्द आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के दूरत्व का सूचक है। तप के उद्भव का मूल जीवन का समर्पण है। जैन-परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप मे मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा पालन में बाधा न आये, उतना तप सब साधको के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्ही के लिए है—जिनमें आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। इस प्रकार जैन-सस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओ का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगो में विभिन्न नामो द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द मे जैन-सस्कृति की आत्मा उत्सर्ग है। बाह्य स्थितियो में जय पराजय की अनवरत श्रृङ्खला चलती है। वहाँ पराजय का अन्त नही होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय में होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचार धारा की बहुमूल्य देन सयम है।

सुख का वियोग मत करो, दु.ख का सयोग मत करो—सबके प्रति संयम करो [३८]। सुख दो और दु.ख मिटाओ की भावना मे आत्म-विजय का भाव नही होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण, साथ-साथ चलते है। इधर शोषण और उधर दु ख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च सस्कृति नही।

सुख का वियोग और दुःख का सयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय की प्रतीक है। सुख का वियोग किए बिना शोषण नही होता, अधिकारो का हरण और द्वन्द्व नही होता।

सुख मत लूटो और दु ख मत दो—इस उदात्त-भावना में आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही। उसके अतिरिक्त जगत् की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान् निर्देश है।

प्राणीमात्र अपने अधिकारो मे रमणशील और स्वतन्त्र है, यही उनकी सहज सुख की स्थिति है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नही होगा।

दश प्रकार का संयम[३९], दश प्रकार का सवर[४०] और दश प्रकार का विरमण है वह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है, या वह निवृत्ति है या है निवृत्ति-सवलित प्रवृत्ति।

दश आशसा के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति है[४१]। जैन-सस्कृति में प्रमुख वस्तु है 'दृष्टिसम्पन्नता'—सम्यक् दर्शन। ससारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है, कोई दुविधा नही होती। अव्यवस्था तव होती है, जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाय। ससारोन्मुखी वृत्ति मे मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवो के जीवन का अधिकार स्वीकार नही करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नही आँकते। दु ख मिटाने और सुखी वनाने की वृत्ति व्यवहारिक है, किन्तु क्षुद्र-भावना, स्वार्थ और सकुचित वृत्तियो को प्रश्रय देनेवाली है। आरम्भ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म से दूर किये रहते है[४२]। बड़ा व्यक्ति अपने हित के लिए छोटे व्यक्ति की, वडा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नही सकुचाता।

वड़े से भी कोई वडा होता है और छोटे से भी कोई छोटा। वडे द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किन्तु छोटे के प्रति कठोर वनते वह नही सोचता। यहाँ गतिरोध होता है।

जैन विचारधारा यहाँ वताती है—दुःखनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो, उसे ध्रुव-सत्य मान मत चलो। सुख मत लूटो, दु ख मत दो——इसे विकसित करो। इसका विकास होगा तो दुःख मिटाओ, सुखी वनाओ की भावना अपने आप पूरी होगी। दुःखी न वनाने की भावना वढेगी तो दुःख अपने आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ होगी तो सुखी वनाने की आवश्यकता ही क्या होगी ?

सक्षेप में तत्त्व यह है—दु.ख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास

मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुचा सकता है। किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नही त्याग सकता।

सयमी थोड़ो का व्यवहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण मुक्त रहता है। मनुष्य जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियाँ चाहिए, जैसे —

(१) आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढे।

(२) मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।

(३) लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढे।

(४) क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बडे।

(५) शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढे।

(६) सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढे।

(७) माध्यस्थ या आग्रह-हीनता, जिससे सत्य स्वीकार की शक्ति बढे।

किन्तु इन सबको सयम की अपेक्षा है। "एक ही साधै सब सधै" संयम की साधना हो तो सब सध जाते है, नही तो नही। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-विन्दु मान कर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है[४३], जो 'जैन-विचारणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

प्रवर्तक-धर्म पुण्य या स्वर्ग को ही अन्तिम साध्य मानकर रुक जाता था। उसमें जो मोक्ष पुरुषार्थ की भावना का उदय हुआ, वह निवर्तक-धर्म या श्रमण सस्कृति का ही प्रभाव है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक रेखाए है, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यो को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्ट—सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नही रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएं और जुड जायें तो साम्य आयेगा, भोगपरक नही किन्तु त्यागपरक, वृत्ति बढेगी — दानमय नही किन्तु अग्रहणमय, नियत्रण बढेगा—दूसरो का नही किन्तु अपना।

अहिंसा का विकास संयम के आधार पर हुआ है। जर्मन विद्वान् अलबर्ट

स्वीजर ने इस तथ्य का बडी गम्भीरता से प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार "यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमें मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएँ कैसे बध सकी और दूसरो को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है ? यह दलील कि सन्यास की भावना मार्ग में बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोड़ी से थोडी करुणा भी इस सकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती। परन्तु ऐसा कभी नही हुआ।

अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर ससार से पवित्र रहने की भावना पर आवृत है। यह मूलतः कार्य के आचरण से नही अधिकतर पूर्ण बनने के आचरण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियो के साथ के सम्पर्क मे अकार्य के सिद्धान्त का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश मे सभी जीवो के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नही हुआ है। भारतीय सन्यास मे अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता से व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र मे पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतो का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।

पर पुनर्वार कहना पडता है कि भारतीय विचारधारा हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुँचाना, ऐसा ही कहती रही है तभी वह शताब्दी गुजर जाने पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है।

जैन-धर्म में सर्व प्रथम भारतीय संन्यास ने आचारगत विशेषता प्राप्त की। जैन-धर्म मूल से ही नही मारने और कष्ट न देने के उपदेश को महत्त्व देता है जब कि उपनिषदो में इसे मानो प्रसगवश कह दिया गया है। साधारणत यह

कैसे संगत हो सकता है कि यज्ञों में जिनका नियमित कार्य था पशु-हत्या करना, उन ब्राह्मणों में हत्या न करने का विचार उठा होगा ? ब्राह्मणों ने अहिंसा का उपदेश जैनो से ग्रहण किया होगा, इस विचार की ओर संकेत करने के पर्याप्त कारण है।

हत्या न करने और कष्ट न पहुँचाने के उपदेश की स्थापना मानव के आध्यात्मिक इतिहास मे महानतम अवसरो में से एक है। जगत् और जीवन के प्रति अनासक्ति और कार्य-त्याग के सिद्धान्त से प्रारम्भ होकर प्रचीन भारतीय विचारधारा इस महान् खोज तक पहुँच जाती है, जहाँ आचार की कोई सीमा नही। यह सब उस काल मे हुआ जब दूसरे अचलो में आचार की उतनी अधिक उन्नति नही हो सकी थी। मेरा जहाँ तक ज्ञान है जैन-धर्म मे ही इसकी प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई[४४]।

सामान्य धारणा यह है कि जैन-सस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नही है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद मे आशा और निराशा का यथार्थ अकन होता है। ऋग्वेद के गीतों मे वर्तमान भावना आशावादी है। उसका कारण तत्त्व-चिन्तन की अल्पता है। जहाँ चिन्तन की गहराई है वहाँ विषाद की छाया पाई जाती है। उषा को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह मनुष्य-जीवन को क्षीण करती है[४५]। उल्लास और विषाद विश्व के यथार्थ रूप है। समाज या वर्तमान के जीवन की भूमिका में केवल उल्लास की कल्पना होती है। किन्तु जब अनन्त अतीत और भविष्य के गर्भ मे मनुष्य का चिन्तन गतिशील होता है, समाज के कृत्रिम बन्धन से उन्मुक्त हो जब मनुष्य 'व्यक्ति' स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है, कोरी कल्पना से प्रसूत आशा के अन्तरिक्ष से उतर वह पदार्थ की भूमि पर चला जाता है, समाज और वर्तमान की वेदी पर खड़े लोग कहते है - यह निराशा है, पलायन है। तत्त्व-दर्शन की भूमिका में से निहारने वाले लोग कहते हैं कि यह वास्तविक आनन्द की ओर प्रयाण है। पूर्व औपनिषदिक विचारधारा के समर्थको को ब्रह्मद्विष् (वेद से घृणा करने वाले) देवनिन्द (देवताओ की निन्दा करने वाले) कहा गया। भगवान् पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक व्यक्ति है। इनका समय हमें उस

काल मे ले जाता है जब ब्राह्मण-ग्रन्थो का निर्माण हो रहा था । जिसे पलायन-वाद कहा गया । उससे उपनिषद्-साहित्य मुक्त नही रहा ।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाएँ करते है । जैन उपासको का कामना सूत्र है—

(१) कब मैं अल्प मूल्य एव बहु मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूँगा[४६] ।

(२) कब मैं मुण्ड हो गृहस्थपन छोड़ साधुव्रत स्वीकार करूँगा[४७] ।

(३) कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-सलेखना यानी अन्तिम अनशन मे शरीर को झोसकर—जुटाकर भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रह कर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूँगा[४८] ।

जैनाचार्य धार्मिक विचार मे बहुत ही उदार रहे है । उन्होने अपने अनुयायियो को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया । उन्हें परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था मे कभी नही बांधा । समाज-व्यवस्था को समाज-शास्त्रियो के लिए सुरक्षित छोड दिया । धार्मिक विचारो के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है किन्तु सामाजिक बन्धनो की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नही है । जैनो की सख्या करोडो से लाखो मे हो गई, उसका कारण यह हो सकता है और इस सिद्धान्तवादिता के कारण वह धर्म के विशुद्ध रूप की रक्षा भी कर सका है ।

जैन-सस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है । उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है । भगवान् ने अहिंसा-धर्म का निरूपण उन सबके लिए किया—जो आत्म-उपासना के लिए तत्पर थे या नही थे, जो उपासना-मार्ग सुनना चाहते थे या नही चाहते थे, जो शस्त्रीकरण से दूर थे या नही थे, जो परिग्रह की उपाधि से बन्धे हुए थे या नही थे, जो पौद्गलिक सयोग मे फँसे हुए थे या नही थे—और सबको धार्मिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा दी और उन्होने कहा :—

(१) धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नही हो सकता । फलवस्वरूप-श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए[४९] ।

(२) धर्म की आराधना मे जाति-पाँति का भेद नही हो सकता । फलस्वरूप सभी जातियो के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए[५०] ।

(३) धर्म की आराधना मे क्षेत्र का भेद नही हो सकता। वह गाँव में भी की जा सकती है और अरण्य मे भी की जा सकती है[५१]।

(४) धर्म की आराधना में वेष का भेद नही हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है[५२]।

(५) भगवान् ने अपने श्रमणो से कहा—धर्म का उपदेश जैसे पुण्य को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्य को दो[५३]।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टि मे जैनो के सम्प्रदाय है। पर उन्होने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नही बांधा। वे जैन-सम्प्रदाय को नही, जैनत्व को महत्त्व देते है। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेष मे भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेष मे भी मुक्त हो जाता है। शास्त्रीय शब्दो मे उन्हे क्रमश अन्य-लिंग सिद्ध और गृह-लिंग-सिद्ध कहा जाता है[५४]।

इस व्यापक और उदार चेतना की परिणति ने ही जैन आचार्यो को यह कहने के लिए प्रेरित किया -

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष. कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥

(हरिभद्र सूरि)

भव-बीजांकुर-जनना, रागाद्या· क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

(आचार्य हेमचन्द्र)

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥

(उपाध्याय यशोविजय)

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-सस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-सग्रह करने मे अधिक सफल क्यो नही हुई ?

इसके समाधान में कहा जा सकता है—जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धान्त-वादिता, तपोमार्ग की कठोरता, अहिंसा की सूक्ष्मता और सामाजिक बन्धन

का अभाव—ये सारे तत्त्व लोक सग्राहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे है। जैन-साधु-सघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव भी उसके विस्तृत न होने का प्रमुख कारण बना है।

कला

कला विशुद्ध समाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई सम्बन्ध नही है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन करने वाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राजत्व काल मे पुरुषो के लिए बहत्तर और स्त्रियो के लिए चौसठ कलाओ का निरूपण किया[५५]। टीकाकारो ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमे लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेष-भूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानो का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करने वाले तपस्वियो ने कहा है—जो व्यक्ति सब कलाओ में प्रवर धर्म-कला को नही जानता, वह बहत्तर कलाओ में कुशल होते हुए भी अकुशल है[५६]। जैन-धर्म का आत्म-पक्ष धर्म-कला के उन्नयन मे ही सलग्न रहा। बहिरग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज—विस्तार के साथ-साथ ललित-कला का भी विस्तार हुआ।

चित्र-कला

जैन-चित्रकला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यो को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते है। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनो प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन है-तत्त्व प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्र-कला और स्मृति हेतुक स्थापना के आधार मूर्तिकला का विकास हुआ। ताडपत्र और पत्रो पर ग्रन्थ लिखे गए और उनमे चित्र किए गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी मे हजारो ऐसी प्रतियां लिखी गई, जो कलात्मक चित्राकृतियो के कारण अमूल्य सी है।

ताडपत्रीय या पत्रीय प्रतियो के पट्ठो, चातुर्मासिक प्रार्थनाओ, कल्याण, मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रो के चित्रो को देखे बिना मध्यकालीन चित्र-कला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

योगीमारा गिरिगुहा (रामगढ की पहाड़ी, सरगुजा) और सितन्नवासल (पद्दुकोटै राज्य) के भित्ति-चित्र अत्यन्त प्राचीन व सुन्दर है।

चित्र कला की विशेष जानकारी के लिए जैन चित्रकल्पद्रुम देखना चाहिए

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सूकुमार कला है। जैन साधुओ ने इसे बहुत ही विकसित किया। सौन्दर्य और सूक्ष्मता दोनो दृष्टियो से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियो का कौशल विशेष रूप मे प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापथ के साधुओ ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि में ये अग्रणी है। कई मुनियो ने ११ इच लम्बे व ५ इच चौड़े पन्ने मे लगभग ८० हजार अक्षर लिखे है। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे है।

मूर्ति-कला और स्थापत्य-कला

कालक्रम से जैन-परम्परा में प्रतिमा-पूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएं है। कुछ जैन सम्प्रदाय मूर्ति-पूजा करते है और कुछ नही करते। किन्तु कला की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण विषय है।

वर्तमान मे सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्य-काल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पालिस अभी तक भी ज्यो की त्यो बनी है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमो में भी अनेक जैन-मूर्तियां मौजूद है। इनमे से कुछ गुप्त कालीन है। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में २४ वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के

समय मे तैयार की गई थी। वास्तव मे मथुरा में जैन मूर्ति-कला की दृष्टि से भी वहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुग-कालीन कला मुख्यत जैन-सम्प्रदाय की है[५७]।

खण्डगिरि और उदयगिरि मे ई० पू० १८८-३० तक की शुग-कालीन मूर्ति-शिल्प के अद्भुत चातुर्य के दर्शन होते है। वहाँ पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाए है, जिनमे मूर्ति-शिल्प भी है। दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान मे खुदाई से जो जैन-मूर्तिया उपलब्ध हुई है, उनका समय ई० पू० ३००-२०० के लगभग वताया जाता है। उन मूर्तियो की सौम्याकृति द्राविडकला में अनुपम मानी जाती है। श्रवण वेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो ससार की अद्भुत वस्तुओ में से है। वह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत शान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन मूर्ति-कला की अनुपम देन है।

मौर्य और शुंग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्ति-कला की मुख्य तीन धाराएँ है :—

(१) गांधार-कला—जो उत्तर-पश्चिम मे पनपी।

(२) मथुरा-कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रो में विकसित हुई।

(३) अमरावती की कला—जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई।

जैन मूर्ति-कला का विकास मथुरा-कला से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एव जूनागढ की गुफाओ मे मिलते है।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तोड का कीर्ति-स्तम्भ, आवू के मन्दिर एव राणकपुर के जैन मन्दिरो के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे है।

पाँच

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावोर का युग धार्मिक मतवादो और कर्मकाण्डो से सकुल था। वौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे[1]। जैन-साहित्य में तीन सौ तिरेसठ धर्म-मतवादो का उल्लेख मिलता है[2]। यह भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा है। सक्षेप मे सारे सम्प्रदाय चार वर्गो मे समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है। वे है :—

(१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) विनयवाद (४) अज्ञानवाद[3]।

वौद्ध साहित्य भी सक्षिप्त दृष्टि से छह श्रमण-सम्प्रदायो का उल्लेख करता है। उनके मतवाद ये है :—

(१) अक्रियावाद (२) नियतिवाद (३) उच्छेदवाद (४) अन्योन्यवाद (५) चातुर्याम सवरवाद (६) विक्षेपवाद।

और इनके आचार्य क्रमश ये है :—

(१) पूरण कश्यप (२) मक्खलिगोशाल (३) अजित केश कवलि (४) पकुधकात्यायन (५) निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र (६) सजयवेलट्ठिपुत्र[4]।

अक्रियावाद और उच्छेदवाद—ये दोनो लगभग समान है।

इन्हें अनात्मवादी या नास्तिक कहा जा सकता है। दशाश्रुत स्कन्ध (छठी दशा) में अक्रियावाद का वर्णन इस प्रकार है —

नास्तिकवादी, नास्तिक प्रज्ञ नास्तिक दृष्टि, नो सम्यग्वादी, नो नित्यवादी—उच्छेदवादी, नो परलोकवादी—ये अक्रियावादी हैं।

इनके अनुसार इहलोक नही है, परलोक नही है, माता नही है, पिता नही है, अरिहन्त नही है, चक्रवर्ती नही है, वलदेव नही है, वासुदेव नही है, नरक नही है, नैरयिक नही है, सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नही है, सुचीर्ण कर्म का अच्छा फल नही होता, दुश्चीर्ण कर्म का बुरा फल नही होता, कल्याण और पाप अफल है, पुनर्जन्म नही है, मोक्ष नही है[5]।

सूत्र कृतांग मे अक्रियावाद के कई मतवादो का वर्णन है। वहाँ अनात्मवाद,

आत्मा के अकर्तृत्वाद, मायावाद, बन्ध्यवाद या नियतवाद—इन सबको अक्रियावाद कहा है[६]।

नियतिवाद की चर्चा भगवती (१५) और उपासक दशा (७) में मिलती है।

अन्योन्यवाद सब पदार्थों को बन्ध्य और नियत मानता है, इसलिए उसे अक्रियावाद कहते हैं। इनका वर्णन इन शब्दो मे है—सूर्य न उदित होता है और न अस्त होता है,[७] चन्द्रमा न बढता है न घटता है, जल प्रवाहित नही होता हैं, वायु नही बहती है—यह समूचा लोक बन्ध्य और नियत है[८]।

विक्षेपवाद का समावेश अज्ञानवाद मे होता है। सूत्र कृतांग के अनुसार—"अज्ञानवादी तर्क करने मे कुशल होने पर भी असबद्धभाषी है। क्योकि वे स्वयं सन्देह से परे नही हो सके है[९]। यह सजयवेलट्ठिपुत्र के अभिमत की ओर सकेत है[१०]।

भगवान् महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, और अज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए दीर्घकाल तक सयम मे उपस्थित रहे[११]। भगवान् ने क्रियावाद का मार्ग चुना। उनका आचार आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्त पर स्थिर हुआ। उनकी संस्कृति को हम इसी कसौटी पर परख सकते है।

कुछेक विद्वानो की चिन्तनधारा यह है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्डों के विरोध मे जैन-धर्म का उद्भव हुआ। यह भ्रमपूर्ण है। अहिंसा और संयम जैन-सस्कृति का प्रधान सूत्र है। उसकी परम्परा भगवान् महावीर से बहुत ही पुरानी है। भगवान् ने अपने समय की बुराईयो व अविवेकपूर्ण धार्मिक क्रियाकाण्डो पर हिंसा प्रधान यज्ञ, जातिवाद, भाषावाद, दास प्रथा आदि पर तीव्र प्रहार किया किन्तु यह उनकी अहिंसा का समग्र रूप नही है। यह केवल उसकी सामयिक व्याख्या है। उन्होने अहिंसा की जो शाश्वत व्याख्या दी उसका आधार संयम की पूर्णता है। उसका सम्बन्ध उन्होने उसी से जोड़ा है जो पार्श्वनाथ आदि सभी तीर्थकरो से प्रचारित की गई[१२]।

भारतीय संस्कृति वैदिक और प्राग्वैदिक दोनो धाराओ का मिश्रत रूप है। श्रमण संस्कृति प्राग् वैदिक है। भगवान् महावीर उसके उन्नायक थे।

उन्होने प्राचीन परम्पराओ को आगे बढ़ाया। अपने सम सामयिक विचारो की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचना पूर्वक विवेचन सूत्र कृतांग में मिलता है। वहाँ पच महाभूतवाद[१३], एकात्मवाद[१४], तज्जीवतच्छरीरवाद[१५], अकारकवाद[१६], पष्ठात्मवाद[१७], नियतिवाद[१८], सृष्टिवाद[१९], कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छा-वाद, प्रकृतिवाद आदि अनेक विचारो की चर्चा और उन पर भगवान् का दृष्टि-कोण मिलता है।

संघ-व्यवस्था और संस्कृति का उन्नयन

संस्कृति की साधना अकेले मे हो सकती है पर उसका विकास अकेले मे नही होता, उसका प्रयोजन ही नही होता, वह समुदाय में होता है। समुदाय मान्यता के वल पर वनते है। असमानताओ के उपरान्त भी कोई एक समानता आती है और लोग एक भावना मे जुड जाते है।

जैन मनीपियो का चिन्तन साधना के पक्ष मे जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-सस्थान के पक्ष में सामुदायिक है। जैन तीर्थंकरो ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओं के सघ की स्थापना की।

जैन साहित्य में चर्या या सामाचारी के लिए 'विनय' शब्द का प्रयोग होता है। उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन मे विनय का सूक्ष्म दृष्टि से निरूपण किया गया है। विनय एक तपस्या है। मन, वाणी और शरीर को सयत करना विनय है, वह सस्कृति है। इसका वाह्य रूप लोकोपचार विनय है। इसे सभ्यता का उन्नयन कहा जा सकता है। इसके सात रूप है :—

१—अभ्यासवर्तिता—अपने वडो के समीप रहने का मनोभाव।

२—परछन्दानुवर्तिता—अपने वडो की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना।

३—कार्य-हेतु—गुरु के द्वारा दिये हुए ज्ञान आदि कार्य के लिए उनका सम्मान करना।

४—कृतप्रतिकर्तृता—कृतज्ञ होना, उपकार के प्रति कुछ करने का मनोभाव रखना।

५—आर्त्त-गवेषणता—आर्त्त व्यक्तियों की गवेषणा करना।

६—देश-कालज्ञता—देश और काल को समझ कर कार्य करना।

७—सर्वार्थ-प्रतिलोमता—सब अर्थों में प्रयोजनों के अनुकूल प्रवृत्ति करना[२०]।

सामाचारी

श्रमण-सघ के लिए दस प्रकार की सामाचारी का विधान है[२१]।

१—आवश्यकी—उपाश्रय से बाहर जाते समय आवश्यकी—आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ—कहे।

२—नैषेधिकी—कार्य से निवृत्त होकर आए तब नैषेधिकी—मैं निवृत्त हो चुका हूँ—कहे।

३—आपृच्छा—अपना कार्य करने की अनुमति लेना।

४—प्रतिपृच्छा—दूसरो का कार्य करने की अनुमति लेना।

५—छन्दना—भिक्षा मे लाए आहार के लिए साधर्मिक साधुओ को आमंत्रित करना।

६—इच्छाकार—कार्य करने की इच्छा जताना, जैसे—आप चाहे तो मैं आपका कार्य करूं?

७—मिथ्याकार—भूल हो जाने पर स्वयं उसकी आलोचना करना।

८—तथाकार—आचार्य के वचनो को स्वीकार करना।

९—अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनो के आने पर खड़ा होना, सम्मान करना।

१०—उपसम्पदा—ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से रहना अथवा दूसरे साधुगणो में जाना।

जैसे शिष्य का आचार्य के प्रति कर्त्तव्य होता है, वैसे ही आचार्य का भी शिष्य के प्रति कर्त्तव्य होता है। आचार्य शिष्य को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है :—

१—आचार-विनय २—श्रुत-विनय ३—विक्षेपणा-विनय और ४—दोष-निर्घात-विनय[२२]।

आचार-विनय के चार प्रकार है :—

(१) सयम सामाचारी—सयम के आचरण की विधि ।

(२) तप सामाचारी—तपश्चरण की विधि ।

(३) गण सामाचारी – गण की व्यवस्था की विधि ।

(४) एकाकी विहार सामाचारी—एकल विहार की विधि ।

श्रुत-विनय के चार प्रकार है —

(१) सूत्र पढाना ।

(२) अर्थ पढाना ।

(३) हितकर विषय पढाना ।

(४) नि शेष पढ़ाना—विस्तार पूर्वक पढाना ।

विक्षेपणा-विनय के चार प्रकार है :—

(१) जिसने धर्म नही देखा, उसे धर्म-मार्ग दिखा कर सम्यक्त्वी बनाना ।

(२) जिसने धर्म देखा है, उसे साधर्मिक बनाना ।

(३) धर्म से गिरे हुए को धर्म मे स्थिर करना ।

(४) धर्म-स्थित व्यक्ति के हित- सुख और मोक्ष के लिए तत्पर रहना ।

दोष-निर्घात-विनय के चार प्रकार है :—

(१) कुपित के क्रोध को उपशान्त करना ।

(२) दुष्ट के दोष को दूर करना ।

(३) आकांक्षा का छेदन करना ।

(४) आत्मा को श्रेष्ठ मार्ग मे लगाना ।

आचार्य के छह कर्त्तव्य

संघ की व्यवस्था के लिए आचार्य को निम्नलिखित छह बातो का ध्यान रखना चाहिए :—

१—सूत्रार्थ स्थिरीकरण – सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ मे चतुर्विध-सघ को स्थिर करना ।

२—विनय—सबके साथ नम्रता से व्यवहार करना ।

३—गुरु-पूजा—अपने बड़े अर्थात् स्थविर साधुओ की भक्ति करना ।

४—शैक्ष बहुमान—शिक्षा-ग्रहण करने वाले और नव दीक्षित साधुओं का सत्कार करना ।

५—दानपति श्रद्धा वृद्धि—दान देने मे दाता की श्रद्धा बढाना ।

६—बुद्धिबलवर्द्धन—अपने शिष्यो की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढाना[२३] ।

शिष्य के लिए चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति आवश्यक होती है :—

१—उपकरण-उत्पादनता २—सहायता ३—वर्ण-सज्वलनता ४—भारप्रत्यवरोहणता ।

उपकरण-उत्पादन के चार प्रकार है :—

(१) अनुत्पन्न उपकरणो का उत्पादन ।

(२) पुराने उपकरणो का सरक्षण और संघ गोपन करना ।

(३) उपकरण कम हो जाए तो उनका पुनरुद्धार करना ।

(४) यथाविधि सविभाग करना ।

सहायता के चार प्रकार है :—

(१) अनुकूल बचन बोलना ।

(२) काया द्वारा अनुकूल सेवा करना ।

(३) जैसे सुख मिले वैसे सेवा करना ।

(४) अकुटिल व्यवहार करना ।

वर्ण-सज्वलनता के चार प्रकार है :—

(१) यथार्थ गुणो का वर्णन करना ।

(२) अवर्णवादी को निरुत्तर करना ।

(३) यथार्थ गुण वर्णन करने वालो को बढावा देना ।

(४) अपने से वृद्धो की सेवा करना ।

भारप्रत्यवरोहणता के चार प्रकार है :—

(१) निराधार या परित्यक्त साधुओ को आश्रय देना ।

(२) नव दीक्षित साधु को आचार-गोचर को विधि सिखाना ।

(३) साधर्मिक के रुग्ण हो जाने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करना ।

(४) साधर्मिको मे परस्पर कलह उत्पन्न होने पर किसी का पक्ष लिए ।

बिना मध्यस्थ भाव से उसके उपशमन, क्षमायाचना आदि का प्रयत्न करना, ये मेरे साधर्मिक किस प्रकार कलह-मुक्त होकर समाधि सम्पन्न हो, ऐसा चिन्तन करते रहना[२४])

दिनचर्या

अपर रात्रि में उठ कर आत्मालोचन व धर्म जागरिका करना—यह चर्या का पहला अंग है[२५]। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना[२६]। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं :—

१—सामायिक—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२—चतुर्विंशस्तव—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।

३—वन्दना-आचार्य को दशावर्त्त-वन्दना।

४—प्रतिक्रमण—कृत दोषों की आलोचना।

५—कायोत्सर्ग—काया का स्थिरीकरण-स्थिर-चिन्तन।

६—प्रत्याख्यान—त्याग करना।

इस आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ जोड कर गुरु से पूछे—मैं क्या करूँ? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा में लगूँ या स्वाध्याय में? यह पूछने पर आचार्य सेवा में लगाए तो अम्लान-भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे[२७]। दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है :—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्याय मामनेत्।
ध्यान - स्वाध्याय - सपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। आगमिक काल-विभाग इस प्रकार रहा है—दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करें, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षा-चर्या और चौथे में फिर स्वाध्याय[२८]।

रात के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे[२९]।

पूर्व रात में भी आवश्यक कर्म करे[३०]। पहले पहर में प्रतिलेखन[३१] करे

वैसे चौथे पहर भी करे[३२], यह मुनि की जागरुकतापूर्ण जीवन-चर्या है।

श्रावक-संघ

धर्म की आराधना मे जैसे साधु-साध्वियाँ संघ के अंग है, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी है। ये चारो मिलकर ही चतुर्विध-संघ को पूर्ण बनाते हैं। भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओ को साधु-साध्वियों के माता-पिता तुल्य कहा है[३३]।

श्रावक की धार्मिक चर्या यह है :—

१—सामायिक के अगों का अनुपालन।

२—दोनों पक्षों में पौषधोपवास[३४]।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-संघ के लिए है, वैसे ही श्रावक-सघ के लिए भी हैं।

श्रावक के छह गुण

देश विरति चारित्र का पालन करने वाला श्रद्धा-सम्पन्न-व्यक्ति श्रावक कहलाता है। इसके छह गुण है :—

१—व्रतो का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान।

व्रतों का अनुष्ठान चार प्रकार से होता है—

(क) विनय और बहुमान पूर्वक व्रतो को सुनना।

(ख) व्रतो के भेद और अतिचारो को सांगोपांग जानना।

(ग) गुरु के समीप कुछ काल के लिए अथवा सदा के लिए व्रतों को स्वीकार करना।

(घ) ग्रहण किये हुए व्रतों को सम्यग् प्रकार पालना।

२—शील (आचार)—इसके छह प्रकार है :—

(क) जहाँ बहुत से शीलवान् बहुश्रुत साधर्मिक लोग एकत्र हो, उस स्थान को आयतन कहते है, वहाँ आना-जाना रखना।

(ख) बिना कार्य दूसरे के घर न जाना।

(ग) चमकीला-भड़कीला वेष न रखते हुए सादे वस्त्र पहनना।

(घ) विकार उत्पन्न करने वाले वचन न कहना।

(ङ) बाल-क्रीड़ा अर्थात् जुआ आदि कुव्यसनो का त्याग करना।

(च) मधुर नीति से अर्थात् शान्तिमय मीठे वचनो से कार्य चलाना, कठोर वचन न बोलना।

(३)—गुणवत्ता—इसके पाँच प्रकार है :—

(१) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।

(२) तप, नियम, वन्दनादि अनुष्ठानो मे तत्पर रहना।

(३) विनयवान् होना।

(४) दुराग्रह नही करना।

(५) जिनवाणी में रुचि रखना।

४—ऋजु व्यवहार करना—निष्कपट होकर सरल भाव से व्यवहार करना।

५—गुरु-सुश्रूषा।

६—प्रवचन अर्थात् शास्त्रो के ज्ञान मे प्रवीणता [३४]।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान देते है। वे आशातना को सर्वथा परिहार्य मानते है। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है। नम्रता का अर्थ है कपाय-विजय। अभ्युत्थान, अभिवादन, प्रियनिमन्त्रण, अभिमुखगमन, आसन-प्रदान, पहुँचाने के लिए जाना, प्राजलीकरण आदि-आदि शिष्टाचार के अग है। इनका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन मे है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावको को भी वन्दना करते थे[३६]। धर्म-दृष्टि से उनके लिए वन्दनीय मुनि होते है। वन्दना की विधि यह है :—

तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण (करेमि) वदामि नमसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाण मंगल देवय चेइय पज्जुवासामि मत्थएण वदामि।

जैन आचार्य आत्मा को तीन स्थितियो में विभक्त करते है —

(१) वहिरात्मा— जिसे देह और आत्मा का भेद-ज्ञान न हो, मिथ्या-दृष्टि।

(२) अन्तरात्मा—जो देह और आत्मा को पृथक् जानता हो, सम्यग्-दृष्टि ।

(३) परमात्मा—जो चारित्र-सम्पन्न हो ।

नमस्कार महामन्त्र मे पॉच परमात्माओ को नमस्कार किया जाता है ।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान सस्कृति का एक संक्षिप्त-सा रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है ।

जैनपर्व

१—अक्षय तृतीया

२—पर्युषण व दसलक्षण

३—महावीर जयन्ती

४—दीपावली

पर्व अतीत की घटनाओ के प्रतीक होते है । जैनो के मुख्य पर्व इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया, पर्युषण व दस लक्षण, महावीर जयन्ती और दीपावली है ।

अक्षय तृतीया का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है । उन्होने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनो की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया । इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है ।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है । भाद्र बदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है । इसमें तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्म-शोधक प्रवृत्तियो की आराधना की जाती है । इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है । वर्ष भर की भूलो के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी स्वयभूत विशेषता है । यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का संदेशवाहक है ।

दिगम्बर-परम्परा में भाद्र शुक्ला पचमी से चतुर्दशी तक दस लक्षण पर्व मनाया जाता है । इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मो मे एक-एक धर्म की आराधना की जाती है । इसलिए इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है ।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म दिवस के उपलक्ष में मनाई जाती है ।

दीपावली का सबंध भगवान् महावीर के 'निर्वाण से है । कार्तिकी अमा-

वस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ था। उस समय देवो ने और राजाओ ने प्रकाश किया था। उसी का अनुसरण दीप जला कर किया जाता है।

दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण के जो प्रसग है वे केवल जन-श्रुति पर आधारित है, किन्तु इस त्योहार का जो सम्बन्ध जैनियो से है, वह इतिहास-सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थो मे यह बात स्पष्ट शब्दों मे कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि-वेला मे भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवो तथा इन्द्रो ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जिनसेन ने हरिवश पुराण मे जिसका रचना-काल शक सवत् ५०७ माना गया है। स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति मे मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही प्राचीनतम प्रमाण है[३७]।

परिशिष्ट

: १ :

प्रथम खण्ड

: एक :

१—आव० नि० २०३

२—आव० नि० २११

३—आव० नि० २११

४—असौ माता-पिता भ्राता, भार्या पुत्रो गृहं धनम् ।
मर्मत्यादि च ममताऽभूज्जनानां तदादिका ॥ त्रिषष्टि २।१।२६

५—त्रिषष्टि० १।२।८६३-६०२

६—त्रिषष्टि० १।२।६२५-६३२

७—त्रिषष्टि० १।२-६५६

८—स्था० ७।३।५५७

९—स्था० ७।३।५५७

१०—त्रिषष्टि० १।२।२७८-६

११—त्रिषष्टि० १।२।६७४-७६

१२—छान्दो० उप० ३।१७।६

१३—ज्ञाता-५

१४—छान्दो० उप० ३।१७।६

१५—आचा० १।१।१

१६—उत्त० २२।६,८

१७—उत्त० २२।२५,२७

१८—उत्त० २२।३१

१९—अन्त, ०, ३।८

२०—अन्त० ५।१-८

२१—अन्त० १।१-१०,२।१-८,४।१-१०

२२—ज्ञाता० ५, निर० पत्र ५३

२३—छान्दो० उप० ३।१७।६

२४—ज्ञाता० १६, स्था० ६२६ पत्र ४१०, सम० १० पत्र १७, सम० १५८ पत्र १५२

: दो :

१—भा० सं० अ०

२—भा० सं० अ० पृ० ३५

३—श्री० का० लो० सर्ग ३९।८८७-८८

४—पार्श्व के उपदेश को 'चातुर्याम—सवर-वाद' कहते थे। भा० सं० ३८,४७

५—जैन मुनि श्री दर्शन विजयजी (त्रिपुटी)—जैन० भा० अक २९ वर्ष ४

६—आव० चू० (पूर्व भाग) पत्र २४५

७—कल्प० १०९

८—आचा० २।२४।९९९

९—आचा० २।२४।१००४

१०—आचा० २।२४।१००२

११—कल्प० १०९

१२—आचा० २।२४।९९२

१३—कल्प० ११०

१४—आचा० २।२४।१००५

१५—आचा० २।२४।१००५

१६—कल्प० १०९

१७—आचा० २।२४।१००५

१८—महा० क० पृ० ११३

१९—आचा० १।९।१।४७२

२०—सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मत्ति कट्टु—आचा० २।२४

२१—सू० १।६

२२—लाढ-राढ—पश्चिमी बंगाल के अन्तर्गत हुगली, हावड़ा, बांकुडा, बर्दवान और पूर्वीय मिदनापुर के जिले।
लाढ-देश वज्र-भूमि, (वीरभूम) शुभ्र-भूमि (सिंघभूम) नामक प्रदेशो में विभक्त था।

२३—आचा० २।२४।१०२४

२४—स्था० १०।३।७७७

२५—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य, प्रभास।

२६—आचा० २।२४

२७—आचा० १।५।१।१४४

२८—भग० १।१

२९—आचा० १।५।५।१६४

३०—अग्निभूति—कर्म है या नही ?

वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न ?

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत है या नही ?

सुधर्मा—यहाँ जो जैसा है वह परलोक मे भी वैसा होता है या नही ?

मण्डित-पुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नही ?

मौर्य-पुत्र—देव है या नही ?

अकम्पित—नरक है या नही ?

अचल-भ्राता—पुण्य ही मात्रा भेद से सुख-दुख का कारण बनता है या पाप उससे पृथक् है ?

मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नही ?

प्रभास—मोक्ष है या नही ?

(वि० भा० १५४९-२०२४)

३१—श्र० वर्ष ९ अंक ९ पृ० ३७-३९

३२—भग० १२।१

३३—जिनकी वाचना समान हो उनका समूह गण कहलाता है। आठवें-नवें तथा दसवें-ग्यारहवें गणधरो की वाचना समान थी, इसलिए उनके गण दो भी माने जाते है। सम०

३४—स्था० वृ० ३।३।१७७

३५—व्यव०

३६—नं० ४६

३७—सम० ११४

३८—सम० ११५

३९ – दृष्टिवाद के एक बहुत बड़े भाग की संज्ञा "चतुर्दश-पूर्व है। उसके ज्ञाता को 'श्रुत-केवली कहते है।

४०—देखो जैन० द० इ० पृ० १८०.१९०

४१—समणस्सणं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवतण निण्हगा पन्नता तंजहा बहुरता, जीवपएसिआ, अवत्तिया सामुच्छेइत्ता, दो किरिया, तेरासिया, अबद्धिया एएसि णं सत्तण्ह पवयणनिण्हगाण सत्त धम्मायरिया हुत्था-तजहा-जमालि तीसगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गगे, छलुए गोट्ठामाहिले, -एत्तेसि णं सत्तण्ह पवयण निण्हगाणं सत्त्पत्ति नगरा हुत्था तंजहा-सावत्थी, उसभपुरं सेतविता, मिहिला, मुल्लगातीरं, पुरिमतरंजि, दसपुर निण्हग उत्पत्ति नगराइं–स्था० ७।५८७

४२—वि० भा० २५५०-२६०२

४३—कल्प० ६।२८

४४—कल्प० ६।६३

४५—जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बल पायपुञ्छणं।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा॥
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥
सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, सरक्खण परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरति ममाइयं॥
–दश वै० ६।२०,२१,२२

४६—त० सू० ७।१२

४७—गण-परमोहि-पुलाए, आहारग खग-उवसमे कप्पे।
सजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जबुम्मि बुच्छिन्ना॥
–वि० भा० २५९३

४८—षट् प्रा० पृ० ६७

४९—जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वे पि य ते जिणाणाए.॥१॥

जे खलु विसरिसकप्पा, संघयण धिइयादि कारण पप्प ।
णऽ वमन्नइ ण य हीणं, अप्पाण मन्नई तेहिं ॥ २ ॥
सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म खवणट्ठाए ।
विहरति उज्जया खलु, सम्म अभिजाणइ एवं ॥ ३ ॥
—आचा० वृ० १।६।३

५०—६।६८०

५१—क० सु०

५२—देवड्ढि खमासमण जा, परंपर भाव ओ वियाणेमि ।
सिठिलायारे ठविया, दव्वेण परपरा बहुहा ।
—आ० अ०

५३—सू० २।२,५४

५४—जीवाभिगम ३।२।१०-४

: तीन :

१—जहजीवा वज्झति, मुच्चति जह य सकिलिस्सति ।
जह दुक्खाण अत करति कइ अपडिबद्धा—औप० धर्म० ४

२—न० ४६

३—पर्वश्रुतात् पूर्व क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽ दीनि चतुर्दश ।
—स्था० वृ० १०।१

४—जइविय भूयावाए सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो ।
निज्जहणा यहा विहु दुम्मेहे पप्प इत्थी य —आव० नि० पृ० ४८,
वि० भा० ५५१

५—न० ५७, सम० १४ वां तथा १४७ वां

६—न०

७—"भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ"—सम० पृ० ६०
"तए ण समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स······
अद्धमागहाए भासाए भासइ सावि य ण अद्धमागहा भासा तेसिं
सव्वेसिं आरियमणारियाण अप्पणे सभासाए परिणामेण परिणमइ······
—औप०

८—"देवा ण भंत्ते ! कयराए भासाए भासंति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवाण अद्धमागद्दाए भासाए भासंति । सावि य ण अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति" ।

—भग० ५।४

९—"से किं तं भासारिया ? भासारिया जे ण अद्धमागहाए भासाए भासंति"

—प्रज्ञा० १।६२

१०—
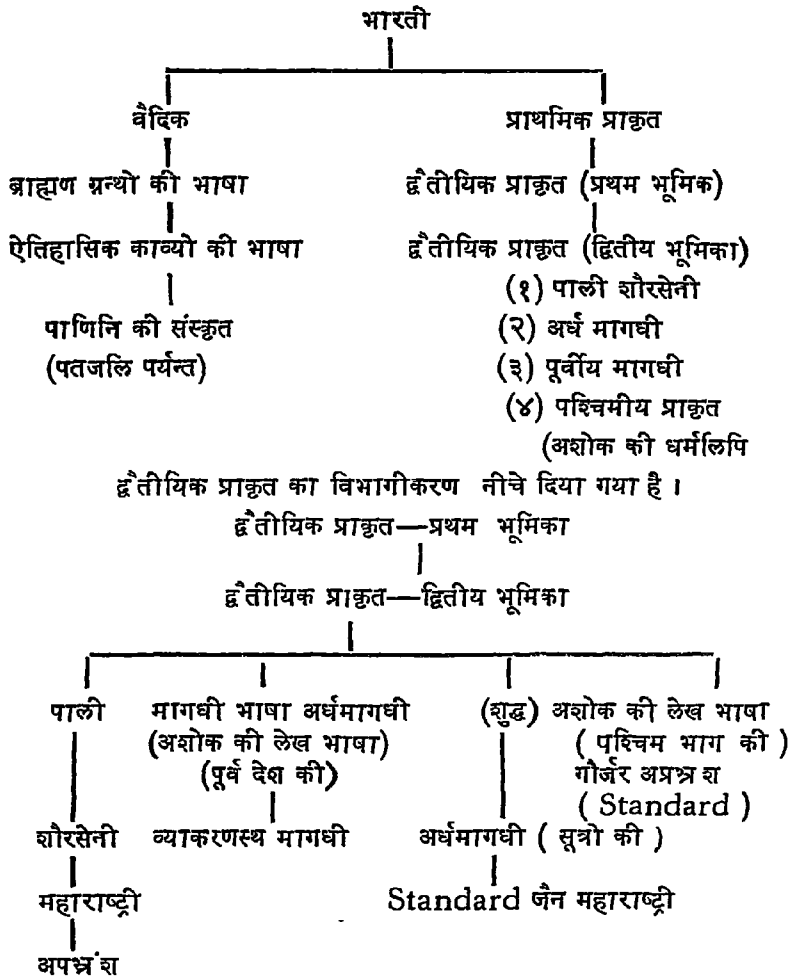
११—"मगदद्धविसयभासाणिबद्ध अद्धमागह, अट्ठारसदेसीभासाणिमय वा अद्धमागह" (नि० चू०)

१२—हेम० ८।१।३

१३—सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया ।
सरमंडलम्मि गिज्जते पसत्था इसिभासिता ॥"
(स्था० ७।३६४)

१४—गणहरथेरकय वा आएसा मुक्कवागरणतो वा ।
धुवचलविसेसतो वा अगाणगेसु नाणत्त ॥
—आव० नि० ४८, वि० भा० ५५०

१५—दशवै० भूमिका

१६—दशवै० भूमिका

१७—पा० स० म उपोद्घात पृ० ३०-३१

१८—परि० पर्व ८।१६३,६।५५-५८

१९—भग० २०।८

२०—चतुर्ष्वैकैकसूत्रार्था—ख्याने स्यात् कोपि नक्षम ।
ततोऽनुयोगाँश्चतुरः पार्थक्येन व्यधात् प्रभु ।
—आव० कथा १७४

२१—दशवै० नि० ३ टी०

२२—प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरित पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधान बोधति बोध समीचीनः ॥ ४३ ॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनांञ्च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगञ्च ॥ ४४ ॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥ ४५ ॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥
—रत्न० श्रा० अधिकार १ पृ० ७१, ७२, ७३

२३—पहला पद

२४—१३२

२५—सम०, रा० प्र०, प्रश्न० ५ आस्रव

२६—जम्बू० वृ० २ वृक्ष

२७—लेख-सामग्री के लिए देखो भा०प्रा०लि०मा०पृ० १४२-१५६,पुर त्रै०
(पु० १ पृ० ४१६-४३३ लिंबड़ी भंडार के सूचिपत्र के लेख)

२८—१ पद

२९—१ पद

३०—४-२

३१—पत्र २५

३२—१२ उ०

३३—ईसवी पूर्व चतुर्थ शतक

३४—भा० प्रा० लि० मा० प०

३५—भा० प्रा० लि० मा० प० २

३६—भा० प्रा० लि० मा० प० २

३७—कल्प १ अधि० ६।१४८

३८—वायणतरे पुण, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति

३९—(क) सघ स अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिन्न सकामण पलिमथो, पमाए परिकम्मण लिहणा, १४७ वृ० नि० उ० ७३

(ख) पोत्थएसु घेप्पतएसु असजमो भवइ—दशवै० चू० पृ० २१
ननु—पूर्व पुस्तकनिरपेक्षैव सिद्धान्तादिवाचना ऽभूत्, साम्प्रत पुस्तक-सग्रहः क्रियते साधुभिस्तत् कथ सपतिमङ्गति ? उच्यते—पुस्तक-ग्रहण तु कारणिकं नत्वौत्सर्गिकम् । अन्यथा तु पुस्तकग्रहणे भूयांसो दोषाः प्रतिपादिताः सन्ति —विशे० श० ३९

४०—यावतो वारान् तत्पुस्तक बध्नाति मुंचति वा अक्षराणि वा लिखति तावन्ति चतुर्लघूनि आज्ञादयश्च दोषा । —वृ० नि० ३ उ०

४१—कोई मूढ मिथ्याती जीव इम कहै रे, साधु नै लिखणो कल्पै नाही रे ।
पाना पिण साधु नै राखणां रे, इम कहै घणाँ लोकाँ रै माँहि रे ॥

चवदे उपकरण सु अधिक नहीं राखणा रे, पाना राख्या तो उपगरण अधिका थाय रे ।
उपगरण अधिका राखै तै साध निश्चय नही रे, एहवी ऊंधी परूपी लोकां माय रे ॥ — जि० उप० ३३

४२—झाणकोट्ठोवगए, सज्झाय सज्झाण रयस्स,—भग०, दशवै०

४३—जि० उप०

४४—१० संवर-द्वार

४५—नीम उपगरण साधु रै सूत्र थी कह्या, आर्यां रै उपगरण अधिक च्यार ।
इग्यारै उपगरण स्थविर नै कह्या, सूत्र मूं जोय कियो छै न्यार रै ॥
जि० उप० २१

४६—जि० उप० २२

४७—जि० उप० ३५-३८, दशा० ४, प्रश्न० द्वार ७, निशीथ० उ० १०, नं० ।

४८—जि० उप० ३६-४१

४९—(क) मति-सम्पदा आचार्य-सम्पदा —दशा० ४ अ०
(ख) कर्म-सत्य, लेखादि सत्य —प्रश्न० सत्य-संवर द्वार
(ग) निशी० गाथा-३
(घ) श्रुतज्ञान का विषय सब द्रव्यों को जानना और देखना—नं०

५०—कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छित्ति निमित्त च गेण्हमाणस्स पोत्थए सजमो भवइ । —दशवै० चूर्णि पृ० २१

५१—श्रुत-पुरुषस्य अंगेषु प्रविष्टम्—अंग-प्रविष्टम् —न० वृ०

५२—जम्बू० वृ० वक्ष १

५३—त० भा० टी० पृ० २३

५४—"श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जतायां…भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्ट-तदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सकलय्य पुस्तकारूढा कृताः । ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि

तत्संकलनान्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।" —स० श०

५५—पा० भा० सा० पृ० ६१

५६—पा० भा० सा० पृ० ६५

५७—पा० भा० सा०

५८—अनु०

५९—हेम० २।२।३८

६०—अन्य० व्यव० ३

६१—हेम० २।२।३९

६२ तृ० द्वा० ८

६३—एक० द्वा० १५

६४—रत्न० श्रा० प्रस्तावना पृ० १५७

६५—युक्त्य० ६१

६६—अध्या० उप० ४।२

६७—प्रभा० वृ० २०५, पट्० (लघु०) पट्० (वृहद्)

६८—लब्व० २०

६९—श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद् वीतराग-स्तवादित ।
कुमारपालभूपाल., प्राप्नोतु फलमीप्सितम्— —वीत० २०।९

७०—वीत० २०।८

७१—वीत० १।५

७२—भर० महा०

७३—भर० महा० पुर्ग १७

७४—पद्० महा० ११।६७

७५—पद्० महा० १७।१३३

७६—शा० सु० १३।५,६

७७—क० क० च०

७८—ना० सं० भाग १९ अंक १-२ (भाषा विज्ञान विशेषांक) पृ० ७९।८०

७९—न० वा० ढाल ९वी दोहा २,३

८०—न० वा० ढाल ६ गाथा ६—१३, ३७, ३८

८१—आचारांग : प्रथम श्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाता, विपाक, प्रज्ञापना, निशीथ, उत्तराध्ययन (२२ अध्ययन) अनुयोग द्वार।

८२—इन्होंने नव-अंग—स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती, ज्ञाता, उपासक दशा, अन्तकृत् दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण और विपाक—पर टीकाएं लिखी।

८३—इन्होंने आचारांग और सूत्रकृताङ्ग पर टीकाएं लिखी। ये वि० १० वी शताब्दी में हुए।

८४—इन्होने उत्तराध्ययन पर टीका लिखी। इनका समय वि० १० वी शती है।

८५—इन्होने दशवैकालिक पर टीका लिखी। इनका समय वि० १० वी शती है।

८६—ये अनुयोग द्वार के टीकाकार है। इनका समय वि० १२ वां शतक है।

८७—इन्होने राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पर टीकाएं लिखी। इनका समय वि० १२ वी शताब्दी है।

८८—निर्युक्तियां भद्रबाहु द्वितीय की रचना है। इनका समय वि० ५ वी या छठी शताब्दी है।

८९—संघदास गणी और जिनभद्र के भाष्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनका समय वि० ७ वी शताब्दी है।

९०—चूर्णिकारो में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध है। इनका समय वि० ७ वी ८ वी शताब्दी है।

९१—इनका समय वि० १८ वी शताब्दी है।

९२—बालावबोध।

९३—कालु० यशो० २।५।४-८

९४—कालु० यशो० १।५।१,६,८, १०

९५—कालु० यशो० १।५।१३-१४

९६—आचार्य श्री तुलसी (जीवन पर एकदृष्टि) पृ० ८९,९०,९१,९२,९३,९४

: चार :

१—सम० ६, १६,७०

२—वि० (दिसम्बर) १६४२ चीनी भारतीय संस्कृति मे अहिंसा-तत्त्व अंक—६

३—सू० १।७।१३

४—सू० १।७।१४

५—सू० १।७।८

६—सू० १।७।१६

७—उत्त० १२।३७

८—सू० १।१३।११

६—उत्त० ६।१०

१०—उत्त० ६।८।१०

११—उत्त० २०।४४

१२—आचा० १।४।२।६

१३—उत्त० २३, भग० १।६, सू० २।७, भग० ६।३२,

१४—भग० २।१

१५—भग० ११।१२

१६—भग० ११।६

१७—भग० ७।१०, १८।८

१८—भग० १८।१०

१९—भग० २।५

२०—भग० १२।१

२१—भग० १८।३

२२—भग० २।१

२३—उत्त० २०।५६।५८, श्रे० शा०

२४—उत्त० वृ०

२५—अन्त०

२६—ज्ञाता १, अनु० दशा० वर्ग १

२७—निर० दशा० १०, स्था० ६।६६६, सम० १५२ समवाय,भग०

२८ - भग०

२६—जैन० भा० वर्ष २ अक १

३०—जैन० भा० वर्ष २ अक १ पृ० ४५, ४६, ४७,४८

३१—जैन० भा० वर्ष ६ अक ४२ पृ० ६८६

३२—वि० (इलाहाबाद) अहिंसक परम्परा

३३—मू० समाचार, २१ मार्च, १६३७

३४—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४१ पृ० ६६७

३५—जैन० भा० वर्ष ६ अक ४२ पृ० ६६०

३६—Our Oriental Heritage, page 467,471

३७—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६६० प्रवक्ता श्री आदित्यनाथ झा, उपकुलपति, वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय।

३८—वेइंदियाण जीवा असमारम्भमाणस्स चउविहे संजमे कज्जइ, तजहा—जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, जिब्भामएणं दुक्खेणं असजोगेत्ता भवइ, फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामयाओ दुक्खाओ असयोगेत्ता भवइ। —स्था० ४-४

३६ – दसविहे सजमे पन्नते तजहा-पुढविकायसजमे, अप्प-तेउ-वाउ-बणस्सइ-वेइदियसजमे तेइदियचउरिंदिससजमे पचेदियसजमे-अजीवकायसजमे। —स्था० १०

४०—दसविहे सवरे पन्नते त जहा—सोइ दियसंवरे जावफासिंदियसवरे, मणवइ-काय उवगरणसवरे, सूईकुसग्गसवरे। —स्था० १०

४१—दसविहे आससप्पओगे पन्नते त जहा—इह लोगाससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, दुहओलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामासंसप्पओगे, भोगाससप्पओगे, लाभाससप्प ओगे, पूयाससप्पओगे, सक्काराससप्पओगे। —स्था० १०

४२—दो ठाणाइ अपरियाणित्ता आया णो केवलिपन्नत्त धम्म लभेज्जा सवणाए तजहा—आरम्भे चेव परिग्गहे चेव। —स्था० २।१

४३—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न

अज्जावेयव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए। —आचा० २

४४—Indian Thought and its Development (Page 79-84

४५—ऋग० २।१।१।१८।१२४

४६—कयाणमहं अप्पं वा बहुय वा परिग्गह परिच्चइस्सामि। —स्था० ३

४७—कयाणमहं मुण्डे भवित्ता आगाराओ अणगारिअ पव्वइस्सामि। —स्था० ३

४८—कयाणमहं अपच्छिममारणांतियसलेहणाझूसणाझुसिए, भतपाण पडियाइक्खओ पाअओए कालमणवकखमाणे विहरिस्सामि। —स्था० ३

४९—तित्थ पुण•••समणा समणीओ सावया सावियाओ य। —भग० २०।८

५०—उत्त० १२

५१—गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह। —आचा० ८।१।१९७

५२—भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिव। —उत्त० ५।२२

५३—जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥ —आचा० २।६।१०२

५४—न०

५५—जम्बू प्र०, वृक्ष २

५६—बावत्तरि कलाकुसला, पडिय पुरिसा अपडिया चेव।
सव्व कलाण पवर, धम्मकल जे न याणति॥

५७—भा० मू० पृ० ५६

: पाँच :

१—यानि च तीणि यानि च सट्ठि —सु० नि० (सभिय सुत्त)

२—सू० वृ० १।१२

३—चत्तारि समीरिणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरिय अकिरिय विणियति तइय, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥
सू० १।१२।१

४—दी० २

५—इन छह सघो मे एक सघ का आचार्य पूरण कश्यप था। उसका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नही लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस ससार के सब प्राणियो को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा।...गगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नही होने का। दान, धर्म संयम सत्य भाषण, इन सबो से पुण्य-प्राप्ति नही होती।" इस पूरण कश्यप के वाद को अक्रिय-वाद कहते थे।

दूसरे संघ का आचार्य मक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि "प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है न कुछ कारण। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी अपवित्र होते है। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु नही है, कुछ भी कारण नही है। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी शुद्ध होते है। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नही होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम, यह सब कुछ नही है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य है—वे नियति (भाग्य) सगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते है—अक्लमन्द और मूर्ख सबो के दुखो का नाश ८० लाख के महाकल्पो के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है।" इस मक्खलि गोसाल के मत को ससार-शुद्धि-वाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते है।

तीसरे सघ का प्रमुख अजित केस कबली था। उसका कहना था कि "दान यज्ञ, तथा होम, यह सब कुछ नही है, भले-बुरे कर्मो का फल नही मिलता, न इहलोक है न परलोक—चार भूतो से मिलकर मनुष्य बना है। जब वह मरता है

तो उसमें का पृथ्वी-धातु पृथ्वी में, आपो धातु पानी मे, तेजो धातु तेज में तथा वायु धातु वायु में मिल जाता है और इन्द्रियां सब आकाश में मिल जाती है। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अरथी पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते है। वहाँ उसकी अस्थि सफेद हो जाती है और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मुर्खो ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते है, वे झूठ भाषण करते है। व्यर्थ ही बड़बड़ करते है। अक्लमन्द और मूर्ख दोनो ही का मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता।" केस कवली के इस मत को उच्छेदवाद कहते है।

—भा० स० अ० पृ० ४५-४६

६—१।१।२।४-८

७—णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चदिमा बढ्ढति हायती वा।
सलिला ण सदति ण वति वाया, वझो णियतो कसिणे हु लोए॥

—सू० १।१२।७

८—चौथे सघ का आचार्य पकुधकात्यायन था। उसका कहना था कि "सातो पदार्थ न किमी ने किये न करवाये। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खबे के समान अचल है। वे हिलते नही, बदलते नही, आपस में कष्टदायक नही होते। और एक दूसरे को सुख दु ख देने में असमर्थ है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख दु ख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ है। इनमे मारनेवाला, मार-खानेवाला, सुननेवाला, कहनेवाला, जाननेवाला, जनानेवाला कोई नही। जो तेज शस्त्रो से दूसरे का सिर काटता है वह खून नही करता सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थो के अवकाश (रिक्तस्थान) मे घुसता है, इतना ही।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते है।

—भा० स० अ० पृ० ४६-४७

वन्ध्य और कुटस्थ शब्द अधिक ध्यान देने योग्य है। "वञ्झा कूट्ठा" —दी० २

६—अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना।
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति॥

—सू० १।१२।२

१०—छठे बड़े सघ का आचार्य सजय वेलट्ठ पुत्र था। वह कहता था—

"परलोक है या नही, यह मैं नही समझता। परलोक है यह भी नही, परलोक नही है, यह भी नही।"'अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नही मानता, नही मिलता, यह भी मैं नही मानता, वह रहता भी है, नही भी रहता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या रहता नही, यह मैं नही समझता। वह रहता है यह भी नही, वह नही रहता, यह भी नही।" इस सजय वेलट्ठ पुत्र के वाद को विक्षेपवाद कहते थे। —भा० स० अ० पृ० ४६

११—किरियाकिरिय वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाण पडियच्च ठाण।
से सव्व वायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजम दीहराय॥
— सू० १।६।२७

१२—से बेमि जे य अतीता जे य पडुपन्ना जे य आगमिस्सा अरिहता भगवता सव्वे ते एव—माइक्खति एव भासति एव पण्णवेंति एव परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सत्ता पा हतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्वेयव्वा। एस धम्मेघु वे णीइए सासर समिच्च लोग खेयन्नेहि पवेइए। सू०२।१।१६

१३—सू० १ १।१।७-८

१४—सू० १।१।१।६-१०

१५ —सू० १।१।१।११-१२

१६ - सू० १।१।१।१३-१४

१७—सू० १।१।१।१५-१६

१८—सू० १।१।१।२-४

१६—सू० १।१।३।५

२०—भग० २५।७।८०२, स्था० ७।३।५८५, औप० (तवोधिकार)

२१—उत्त० २६।२-७

२२—दशा० (चतुर्थी दशा)

२३—धर्म स० २ श्लोक २२ टीका पृ० ४६, प्र० सा० १४८ गाथा ६४१

२४—दशा० (चतुर्थी दशा)

२५—दशवै० चूर्णि २।१२

२६—उत्त० २६।४८-५२

२७—उत्त० २६।८-१०

२८—उत्त० २६।१२

२९—उत्त० २६।१८

३०—उत्त० २६।४०-४३

३१—उत्त० २६।२२-२३

३२—उत्त० २६।३८

३३—स्था० ४

३४—उत्त० ५।२३

३५—धर्म० प्रक० ३३

३६—भग० १२

३७—नव भारत टाईम्स १९५९, 'भारत का राष्ट्रीय पर्व दीपावली'

लेखक—बच्चन श्रीवास्तव।

इस ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची और उनके संकेत

अध्यात्मोपनिषद्—अध्या० उप०

अनुयोग द्वार—अनु०

अन्तकृत—अन्त०

अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका—अन्य० व्यव०

आगम अष्टोत्तरी—आ० अ०

आचारांग—आचा०

आचारांग वृत्ति—आचा० वृ०

आचार्य श्री तुलसी का जीवन चरित्र—आचा० तु०

आवश्यक कथा—आव० कथा०

आवश्यक चूर्णि— आव० चू०

आवश्यक निर्युक्ति—आव० नि०

Indian thought and its Developments.

उत्तराध्ययन—उत्त०

उत्तराध्ययनवृत्ति—उत्त० वृ०

ऋग्वेद—ऋग्०

एकविंशति द्वात्रिंशिका—एक० द्वा०

Our Oriental Heritage.

औपपातिक—औप०

औपपातिक धर्म देशना—औप० धर्म०

कर्नाटक कवि चरित्र—क० क० च०

कल्प सुबोधिका —क० सु०

कल्पसूत्र—कल्प०

कालुयशोविलास—कालु० यशो०

छान्दोग्य उपनिषद्—छान्दो० उप०

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति—जम्बू० वृ०

जै० प० इ०

जिनाज्ञा उपकरण—जिन० उप०

जीवाभिगम—जीवा०

जैन दर्शन का इतिहास—जैन० द० इ०

जैन भारती—जैन० भा०

तत्त्वार्थ सूत्र—त० सू०

तत्त्वार्थ सूत्र भाषानुसारिणी टीका—त० भा० टी०

तृतीय द्वात्रिंशिका—तृ० द्वा०

दशवैकालिक—दशवै०

दशवैकालिक चूर्णि—दशवै चू०

दशवैकालिक निर्युक्ति—दशवै० नि०

दशाश्रुतस्कन्ध—दशा०

दीर्घनिकाय—दी०

धर्मरत्न प्रकरण—धर्म० प्रक०

धर्म सग्रह टीका—धर्म० स०

नन्दी वृति—न०वृ०

नन्दी सूत्र—नं०

नव बाड—न० बा०

नव भारत टाइम्स

निरयावलिका—निर०

निशीथ चूर्णि—नि० चू०

निशीथ सूत्र—निशी०

पद्मानन्द महाकाव्य—पद० महा०

परिशिष्ट पर्व—परि० प०

पाइए भाषाओ अने साहित्य—पा० भा० सा०

पाइए सद्द महण्णवो—पा० स० म०

प्रभाकर चरित्र प्रभा० च०

प्रवचन सार—प्र० सा०

प्रश्न व्याकरण—प्रश्न०

प्रज्ञापना—प्रज्ञा०
भगवती सूत्र—भग०
भरत वाहुवली महाकाव्य—भर० महा०
भारतीय प्राचीन लिपिमाला—भा० प्रा० लि० मा०
भारतीय मूर्तिकला—भा० मू०
भारतीय संस्कृति और अहिंसा—भा० स० अ०
महावीर कथा—महा० क०
मुम्बई समाचार—मु०
युक्त्यनुशासन—युक्त्य०
रत्नकरण्ड श्रावकाचार—रत्न० श्रा०
राजप्रश्नीय—रा० प्र०
लघ्वर्हन्नीति—लघ्व०
विश्ववाणी—वि०
विशेषशतक—वि० श०
विशेषावश्यक भाष्य—वि० भा०
वीतरागस्तव—वीत०
बृहत्कल्प निर्युक्ति—बृ० नि०
व्यवहार—व्यव०
समवायांग—सम०
समाचारी शतक—स० म०
साहित्य सदेश—सा० सदेश
सुत्त निपात—सु० नि०
सूत्रकृतांग—सू०
सूत्रकृतांग वृत्ति—सू० वृ०
स्थानांगवृत्ति—स्था० वृ०
स्थानांगसूत्र—स्था०
शान्त सुधारस—शा० सु०
श्रमण—श्र०

षट् दर्शन समुच्चय (लघुवृति)—षट् (लघु)

षट् दर्शन समुच्चय (बृहद् वृत्ति)—षट्० (बृहद्)

षट्पद प्राभृत—षट्० प्रा०

हेम शब्दानुशासन—हेम०

ज्ञाता धर्म कथा—ज्ञाता०

त्रिषष्ठी श्लाका पुरुष चरित्र—त्रिषष्ठी०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व

(पहला भाग)

,, ,, ,, ,, (दूसरा भाग)

जैन धर्म और दर्शन

[illegible]र्शन में ज्ञान-मीमासा

[illegible] प्रमाण-मीमांसा

[illegible]मासा

[illegible]-मीमासा

[illegible]न तत्त्व चिन्तन

जीव अजीव

प्रतिक्रमण (सटीक)

अहिंसा तत्त्व दर्शन

अहिंसा

अहिंसा की सही समझ

अहिंसा और उसके विचारक

अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)

आँखे खोलो

अणुव्रत-दर्शन

अणुव्रत एक प्रगति

अणुव्रत-आन्दोलन एक अध्ययन

आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि

अनुभव चिन्तन मनन

आज, कल, परसो

विश्व स्थिति

विजय यात्रा

विजय के आलोक में

बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

श्रमण सस्कृति की दो धाराए

सबोधि (सस्कृत-हिन्दी)

कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा

फूल और अंगारे (कविता)

मुकुलम् (सस्कृत-हिन्दी)

भिक्षावृत्ति

धर्मबोध (३ भाग)

उन्नीसवी सदी का नया आविष्कार

नयवाद

दयादान

धर्म और लोक व्यवहार

भिक्षु विचार दर्शन

सस्कृत भारतीय सस्कृतिश्च